ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

दतिया महल बुंदेला स्थापत्य कला का अनूठा दर्शनीय स्थल है

डॉ. नीलेश शर्मा
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

इस क्षेत्र की वास्तुकला बड़ी समृद्ध है। लोक" शैली–आभिजात्य शैली से पीछे नहीं है बल्कि दो कदम आगे ही है। ओरछा के मंदिर और भवनों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ओरछा एक बहुत बड़ा वैभवशाली नगर रहा होगा आज भी उसके खंडहर दिखाई देते हैं। बड़े–बड़े दरवाजे और भवनों के ध्वंशावशेषों को देखकर उनकी सुंदरता का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता हैं बेतवा नदी के किनारे राजाओं की सुंदर छतरियों के निर्माता तो इस क्षेत्र के शिल्पकार ही थे। कंचनघाट का दृश्य आज भी मनोहरी है। जहांगीरी महल और किले का दृश्य कम सुंदर नहीं है। अच्छे सुंदर गोल और कटावदार दरवाजे, अच्छी फूल पत्तियों और बेल–बूटों से सुसज्जित स्तंभ, बेल बूटों और कटावदार भवनों की छतें, अच्छे शीतलता और प्रकाशमय गर्भगृह और तलघर, रोशनदान के रूप में खड़े हुए सावन भादों की भोभा स्थापत्य कला का सुंदरम स्वरूप है। ओरछा के चतुर्भुज मंदिर के निर्माता इस क्षेत्र के कारीगर ही थे। उसके ऊंचे और आलीशान मंदिर की चोटी पर सवा मन सोने का कलश रखने वाले शिल्पी भी इसी क्षेत्र के लोककलाकार ही थे। लक्ष्मीजी के मंदिर की भोभा, रामराजा के मंदिर का विस्तार और मूर्तियों की सथापना कोई सामान्य कार्य नहीं था जिसको सम्पन्न करने वाले कलाकार प्रशंसा के पात्र हैं। इनके अतिरिक्त सारे ओरछा राज्य में छोटे और बड़े गांव में कोई न कोई किला और गढ़ी बनी हुई है।

गढ़कुंडार का किला सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यों तो पलेरा, जतरारा, बल्देवगढ़, रामगढ़, मोहनगढ़ और टीकमगढ़ के किले सुरक्षा और दृढ़ता की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। टीकमगढ़ का हनुमान चालीसा का मंदिर, लाल कोठी, बैकुण्ठी, सुधासागर की कोठी, पपौराजी में कला के उदाहराणों के रूप में गढ़खेरा ओर उमरी के सूर्य मंदिर आज भी विद्यमान है।

राजामहल

राजा रूद्रप्रताप ने 1531ई. में महल की नींव रखी और राजा भारती चंद ने राजामहल का निर्माण सन् 1538 में शुरू करवाया। यह शाही दुर्ग की प्रारम्भिक व अति खूबसूरत इमारत है। यह दो सौ साल तक बसी है। इसने कई परिवर्धन एवं परिवर्तन देखे हैं। महल का कुछ हिस्सा अब विरासत पुरातत्व केन्द्र के रूप में उपयोगी हैं।

यह दुर्ग का पुरातन महल हैं व इसका मुख्य भाग दीवन–ए–आम के पीछे है। पूरी तरह नजर आने वाला हिस्सा तीसरे बुन्देले राजा मधुकरशाह (1554–92 ई.) ने बनाया था।

प्राची द्वार–राजा महल

उदीदमान सूरज की ओर अभिमुख यह कभी मुख्य प्रवेशद्वार था जो दीवाने खास निजी दर्शन कक्ष की ओर जाता था।

उत्तरी द्वार

आपके सम्मुख तिमंजिली इमारत हैं जिसके द्वारा आप राजा महल में प्रवेश करेगें। यह द्वार गचकारी व पत्थर की नक्काशी से अंलकृत हैं। हर एक स्तर पर जाली अथवा पत्थर की जाफरी की अनुपम खिड़कीयां हैं।

दीवान–ए–आम

यहां प्रजा अपने राजा के दर्शन के लिए जमा होंती थी। मधुकर शाह ने दीवान–ए–आम का निर्माण राजा महल के सामने किया। सीढ़ियों द्वारा इस भवन में प्रवेश होता है। ब्रिटिशकाल में इन पर लोहे के जंगले लगवाये गये थे। दीवान–ए–आम के तीन भाग थे। उसके एक भाग में भरतीचंद अपने कृपा पात्र एवं विश्वरत मंत्रियों एवं सेना नायक, दूसरे भाग में सरदार एवं जमींदारों तथा तीसरे भाग में आमंत्रित तथा जनसाधारण के लिए था।

ओरछा के महल

इस महलों की दीवारें गढ़ रूपी हैं जो भीतर की अंतरगता व सुरक्षा बनाये रखती हैं। अंदर विशाल खुले प्रांगण के चारों ओर प्रकाशमय व हवादार कक्ष हैं। प्रांगण सबसे सार्वजनिक स्थल थे जा शाही गोष्ठी महल था, दिनचर्या, अनु" ठान व उत्सव के लिए इस्तेमाल होते थे।

महाराजा वीर सिंह जू देव (प्रथम) :– 1605–1627 ई. महाराजा वीर सिंह जू देव (प्रथम) के शासनकाल के बुन्देलखण्ड का ''स्वर्ण युग'' कहा जाता था। उन्होंने न्यायाप्रियता और बुद्धि कौशलता से जनता का मन मोह लिया था। इस समय बुन्देलखण्ड की शिल्पकला, साहित्य, व्यापार, चित्रकला आदि चर्मोत्कर्ष पर थी। अतः इसे बुन्देलखण्ड के ओरछा राज्य का स्वर्ण युग कहना अनुचित न होगा। 24 अक्टूबर 1605 को भाहजदा सलीम जहांगीर के नाम से भारत का सम्राट बना। उसने अबुलफजल के वध के पुरस्कार स्वरूप 1605–06 में ओरछा का भासक नियुक्त किया।

जहांगीर महल

717 वीं सदी में यह महल राजा वीर सिंह जू देव ने महाराजा जहांगीर की ओरछा यात्रा की स्मृति में बनवाया था।

जहांगीर महल का निर्माण वीरसिंह देव (1605–1627ई.) द्वारा मुगल सम्राट जहांगीर के सम्मान में कराया था। वर्गाकार विन्यास में निर्मित महल की प्रत्येक भुजा 67.6 मीटर लम्बी होकर इसके चारों कोनों पर गुर्ज बने हैं। मुख्य प्रवेश द्वारा बेतवा की मुख्यधारा की ओर खुलता हैं। सुग्राह्य जाली का कार्य हाथियों एवं पक्षियों के अलंकरण इस महल की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषता हैं। छोटे–छोटे गुम्बदों की श्रृंखला मध्य के विशाल गुम्बदों के साथ आकाश को छूती नजर आती है। महल में 136 कक्ष हैं और इन सभी में चित्रकारी भी की गई थी। परन्तु चित्रकारी के अवशेष अब कुद ही कक्षों में दिखलाई देते हैं। जहांगीर महल वस्तुतः मध्यकालीन वास्तुकलां के विकास का उत्कृष्ट उदाहरण होकर सुस्पष्ट परिकल्पना का परिणाम इसमें हिन्दू एवं मुगल स्थापत्य कला का श्रेष्ठ मिश्रण भी देखने को मिलता है। जहांगीर महल 220 वर्गफीट में फैला है, जो कि एक आयात में है। इसकी आठ भव्य बुर्जे उसके सहायम के रूप में खड़ी है। इसके सभी आंतरिक दरवाजे अंदर ही खुलते हैं।

दतिया का सतखण्डा महल :– वीरसिंह देव ने ओरछा के जहांगीर महल के निर्माण के बाद सन् 1620 ई. में दतिया में एक सतखण्डा महल का निर्माण करवाया था। दतिया महल बुंदेला स्थापत्य कला का अनूठा दर्शनीय स्थल है। यह सतखण्डीय विभिन्न ऊंचाई एवं संकीर्ण मार्गों वाला ऐसा विशेष महल है, जो आंतरिक रूप से पृथक–पृथक हैं महल का मुख्यद्वार पूर्व की ओर है जिसका दरवाजा कलात्मक हैं महल का दूसरा द्वार उत्तर दिशा में है। इससे ऐसा प्रतीत होता हे कि एक द्वार सामान्य जनता के लिए एवं दूसरा द्वार विशेष अवसरों के लिए बनवाया, गया था। महल का भीतरी भाग भी सात मंजिला का है। बुंदेला स्थापत्य कला भौली के प्रणेता महाराजा वीरसिंह ही थे। दतिया महल के चारों ओर चौंतीस फीट ऊंचा परकोटा है।

गढ़कुंडार– इस महल की एक विशेषता यह है कि जब तक कोई व्यक्ति महल के नजदीक न पहुंच जाए तब तक यह महल दिखाई नहीं देगा। दूर से यह बड़ा पहाड़ सा दिखाई देता है।

वीर सागर कोठी– ओरछा से पूर्व दिशा पृथ्वीपुर एवं जैरोन ग्राम के मध्य वीर सागर तालाब पर स्थित एक खूबसूरत कोठी है। यद्यपि यह छोटी है, किंतु प्राकृतिक सुषमा से घिरी बड़ी मनोहरी प्रतीत होती है।

कूच की गढ़ी– कूच ग्राम में पहाड़ी के ऊपर एक सुरक्षित स्थान पर यह सुंदर गढ़ी बनी हुई है।

काशी की हवेली– वीरसिंह देव ने काशी में एक महल का निर्माण कराया था जहां पर वे यदा–कदा काशी प्रवास के दौरान निवास करते हैं। इस हवेली में साधु–संतों को भी आश्रय मिलता था।

गया–धर्मशाला– गया में एक धर्मशाला का निर्माण कराया था जहां बुंदेलखण्ड एवं उत्तर भारत के तीर्थ यात्री ठहरा करते हैं। यह उनकी धर्म परायणता का प्रतीक है।

गंगा हवेली– उन्होंने गंगा नदी के किनारे कानपुर के समीप शिवराजपुर ग्राम में एक हवेली का निर्माण कराया था। जो अपने सौंदर्य के लिए विख्यात है।

सिंध नदी का शिकारग्रह– उन्होंने सिंध नदी के किनारे सघन वन में एक कोठी का निर्माण कराया था जो उनके आखेट के समय उपयोग में आती थी।

चित्रकूट ओरछा– चित्रकूट भवन ओरछा में वीरसिंह देव ने बनवाया था।

ओरछा नगर के अजेय दरवाजे– भारतीचंद ने ओरछा नगर को सुरक्षित एवं वैभवशाली बनाने के लिए ओरछा में वि" ाल एवं मजबूत दरवाजे बनवाए थे जो इस प्रकार है :–

1. **भाण्डेर का दरवाजा**– भाण्डेर का दरवाजा सबसे प्रमुख है यह विशाल आकार का है और यही आवागमन का प्रमुख दरवाजा था। दरवाजे के अंदर विशाल लम्बी चौड़ी छत है, जिस पर डेढ़ हजार सैनिक एक साथ खड़े हो सकते थे। बंदूक और तोपें चलाने के लिए कोने बने हैं। दोनों गुर्जे अच्छी हालत में है। यह दोनों गुंर्जे सामरिक दृष्टि से बहुत ही महत्व है। इन पर बड़ी–बड़ी तोपें रखी जाती थी।

2. सैंयर दरवाजा– भाण्डेर दरवाजे के अतिरिक्त भारतीचंद ने ओरछा परकोटे का दूसरा दरवाजा सैंयर दरवाजा का निर्माण कराया था। यह दरवाजा भाण्डेर दरवाजे के ही समान है। किन्तु यह आकार में कुछ छोटा हैं इसका भी अपना सामरिक महत्व था। यहां पर सशस्त्र सैनिक रहते थे। इन दरवाजों में जंगी फाटक लगवाए गए थे। सैंयर दरवाजा परकोटे के पश्चिम हिस्से में और भी रामराजा मंदिर के करीब दो किलोमीटर की दूर पर है।

3. चंदेरी दरवाजा– तीसरा दरवाजा चंदेरी दरवाजा है यह सैंयर दरवाजे से एक किलोमीटर की दूरी पर है। यह दरवाजा परकोटे के दक्षिण मे है और दरवाजे का मुंह पश्चिम की ओर है। यह दरवाजा सैंयर दरवाजे की ही भांति सुरक्षा व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। यह दरवाजा मोहकम गढ़ी के बीच के एक पहाड़ी पर है। यह आपात द्वार था और आवश्यकता पड़ने पर ही खोजा जाता होगा।

4. हाथी दरवाजा– भारतीचंद ने ओरछा नगर की सुरक्षा के लिए ओरछा में एक ओर सुदृढ़ एवं शक्तिशाली हाथी दरवाजे का निर्माण कराया था यह दरवाजा पुल पार करने के पश्चात् एवं महलो में प्रवेश के पूर्व स्थित है। इस दरवाजे में उसी समय के जंगी दरवाजे लगे हैं। इन मजबूत लकड़ी के दरवाजों में सुरक्षा के लिए लोहे के कीले लगाए गए थे इससे भारी भरकम हाथी भी इन दरवाजों को नहीं तोड़ सकते थे।

संदर्भ सूची

1. मिश्रा, डॉ. जयप्रकाश, दुबे, डॉ. राजीव, बुंदेलखण्ड का इतिहास एवं संस्कृति, शिवांश शिवाग्नी पब्लिकेशन्स हाऊस 266/1 पश्चिमी घमापुर, जबलपुर
2. मिश्र, राजेन्द्र लाल, अग्नि पुराणख आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज पूना, 1900, बिब्लियोग्राफिका इण्डिका, कलकत्ता, 1979, पृ.149.
3. त्रिपाठी, मोतीलाल बुन्देलखण्ड दर्शन अशान्त' प्रकाशक लक्ष्मी प्रकाशन, पुरानी नझाई झाँसी, 1980 पृ. 127
4. बुंदेला गिरिवर सिंह वंशावलि, पांडुलिपि (अप्रकाशित)
5. के.डी.बाजपेयी, कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, खण्ड–1, मध्यप्रदेश, दिल्ली, 1995, पृ0 37
6. "Orchha Town" The Imperial Gazatteer of India, Vol. 19 Oxford at Clarendon press, London, 1909, P- 247- 248.
7. **Singh, Vijay Pal** : Keshavdas, Radha Krishna Prakashan, Delhi, 1970, P- 187.
8. **Smith, U.A.** : A History of Fine Arts in India & Cylon, CLARENDEN Press, 1911. P- 112
9. **Pandey, Rudra** :"Jhansi" Aditya Rashmi Prakashan, Gwalior, 1990, P- 262.
10. **Pogson, Capt. W.R.** :A History of Boondelas, B.R. Publication Corporation Delhi, 1974, P- 92-98.

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

राजस्थान की कला में लोक देवी–देवता एक जन चेतना

डॉ. दिनेश कुमार वर्मा
असि. प्रोफेसर (चित्रकला) राजकीय महाविद्यालय, बून्दी जिला बून्दी (राज0)

सारांश :– प्राचीन काल से कलाकार तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक मूल्यों, अवधारणाओं, रीति–रिवाजों व लोकाचारों एवं धार्मिक आस्थाओं व मान्यताओं को रूप–स्वरूप आकारिद करता रहा। वह रंग व रेखाओं व निर्मल सहज मिट्टी तथा पत्थरों को कांट–छांट कर अपने भावों–अनुभावों को मूर्त रूप प्रदान करता रहा। कला में लोक देवी–देवताओं के रूपाकारों को रचकर कलाकार अपने सांस्कृतिक विचारों को पोषित करता रहा। आदिम काल से लोगों में लोक देवी–देवताओं के प्रति धार्मिक आस्था और वि" वास रहा है। ऐसे व्यक्ति जिन्होंने अपने शोर्यपूर्ण कार्यो से त्याग, आत्म बलिदान, गायों की रक्षा, परोपकारी जीवन, वचनपालना आदि से लोगों के प्रति अपनी आस्था, विश्वास पैदाकर लोक देवता का स्थान प्राप्त किया और समाज में जनचेतना का संचार किया। समाज में जनमानस ने ऐसे लोगों के प्रति धार्मिक आस्था, विश्वास रखते हुए इनकी पूजा अर्चना करने लगे। सांस्कृतिक और धार्मिक विचारधारा ने कला का प्रचार–प्रसार किया और कला ने धर्म के गूढ़तम रहस्यों व लक्षणों को समझने में सहयोग प्रदान किया। निःसंदेह, कला में लोकान्मुख विचारो की सृजना से समाज में जनचेतना का प्रचार–प्रसार होता रहा।

प्रस्तावना :– राजस्थान में सांस्कृतिक विचारधारा का प्रवाह स्पष्ट दिखाई देता है। वेदकाल से लेकर मध्यकाल तक की धार्मिक और दार्शनिक आस्था से अनुप्राणित लोक रंजकता यहाँ के जन मानस में आज भी बरकरार है। यहाँ के लोक देवी–देवताओं के रूपांकन लोक जीवन और उनसे जुड़ी कथा, कहानी, सांस्कृतिक परम्पराओं और जीवन दर्शन को दर्शाती है। कला में लोक देवी–देवताओं के रूपाकारों का अपना निजी महत्व है, चूंकि इसका आधार लोक जीवन की मान्यता, धार्मिक आस्था और पारम्परिक विचार धारा है इसलिए जन साधारण के लिए अधिक ग्राह्य है। लोकान्मुख देव आकृतियों की परम्परा लोक हृदय से अद्भूत वह निर्मल धारा है जो सामाजिक परम्पराओं और लोगों की आस्था को अभिव्यक्त कर जन चेतना को जागृत करती है।

राजस्थान की कला में लोक देवी–देवताओं के रूपाकारों की एक समृद्धिशाली परम्परा रही है। यहाँ कलाकारों ने भित्ती, कपडा, कागज, केनवास, लकड़ी, मिट्टी और पत्थरों को कांट–छांटकर कला सृजन के लिए माध्यम बनाया है। कलाकार के कला सृजन में माध्यम नवीनता को दर्शाता है जिसे निम्नांकित भागों में विभाजित कर समझ सकते हैं –

1. भित्ति चित्र :– आदिम काल से कलाकार कला का सृजन करता रहा। आदिम मानव के चित्र संरचना में भय, जादू–टोना व धार्मिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है। निःसंदेह, आदिवासी लोग अपनी कुल देवी एवं स्वास्तिक की पूजा देवी–देवताओं के रूप में करते थे। इनके देविय रूप निर्विकार है जो उनकी आस्था के प्रतीक है। राजस्थान के गाँव–कस्बों में लोक देवी–देवताओं के छोटे–बड़े मन्दिरों में भित्ति चित्रांकन होता रहा। यहाँ रामदेवजी के मन्दिरों में पेन्टर द्वारा रामदेवजी के चित्र बनते रहे हैं।

2. काठ चित्रांकन :– राजस्थान में खाती, खेरादी, सुथार जाति के लोग लकड़ी पर कारीगरी करते है। वे लकड़ी का घरेलू सामान के अतिरिक्त लोक देवी–देवताओं के निर्माण में भी सिद्धहस्त हैं। राजस्थान के भीलवाड़ा से कुछ दूर बस्सी नामक ग्राम में लकड़ी की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ रामदेवजी, पाबूजी आदि देवी–देवताओं के रूपाकारों का निर्माण किया जाता रहा। रंगों में धोकडे का गोंद या अलसी का तेल मिलाकर लकड़ी को रंगा जाता है। कभी–कभी वार्निश (लोबान व फूल चपडी मिली हुई) का इस्तेमाल किया जाता है।

राजस्थान के गाँवों में पथवारी बनाने का रिवाज है। पथवारी को पथ का रक्षक माना जाता है, ऐसी मान्यता गाँवों के लोगों में वि" वसनीय है। बस्सी गाँव के खैरादियों का पुश्तैनी धंधा कावड़ बनाने का रहा है। साधारणतया एक फीट की कावड़े बनायी जाती है। लेकिन डॉ महेन्द्र भानावत के मुताबिक कावड़े चार–पाँच फीट तक भी बनाई जाती है। कावडों पर रामदेवजी के चित्र अंकित होते हैं। पाँच फुट लम्बे और

तीन फुट चौड़े चौरे के चारों ओर चित्र बने रहते हैं। एक ओर काला–गोरा, भैरू जी तथा दूसरी ओर कावड़िया, वीर (श्रवण कुमार) व एक ओर गंगाधर तथा घट के दोनों ओर दो आँखें इन्हें सजीवता प्रदान करती है।[1] राजस्थान के जैसलमेर जिले के रूणिचा में रामदेवजी का मेला लगता है। यहाँ अनेक श्रृदालू कावड़ लेकर पैदल तीर्थ यात्रा करते हैं। कावड़ के अतिरिक्त तलवार के आकार के खाण्डों पर बने रामदेवजी के चित्रांकन राजस्थानी लोक संस्कृति तथा सामाजिक परिवेश की विशिष्ट प्रस्तुति के प्रतिक रहे हैं।[2] खाण्डों का उपयोग अक्सर होली पर किया जाता रहा है।

3. देवरे :– आदिवासी, दलित लोगों ने अपने देवरे स्वयं बनाये। राजस्थान के गाँव कस्बों में यत्र–तत्र स्थापित देवरों में लोक देवी–देवताओं के रूपांकन देखे जाते हैं। रामदेवजी, भैरूजी, तेजाजी, माताजी, भौम्याजी आदि के रूपांकन धर्म व आस्था के प्रतीक है। मेवाड़ क्षेत्र में देवरों पर मोलेला की मूर्तियों को भी स्थापित किया जाता है। राजस्थान में प्राय यह भी देखा जाता है कि कई जगहों पर चौकोर या आयताकार पत्थर पर कामी लगाकर चिकना व चमकिला पेपर (वर्क) चिपका दिया जाता है और कहीं–कहीं इनकों कांट–छांट कर आँखें, कान व कान में कुण्डल इत्यादि से उसे सजाया जाता रहा है। गाँवों के घरों एवं देवरों की दीवारों पर विभिन्न प्रकार के मांड़ने बनाये जाते रहे हैं। धार्मिक भावनाओं के तहत गणेशजी, लक्ष्मीजी के पग्ल्या, स्वास्तिक आदि शुभ प्रतीकों को मांडना के रूप में बनाये जाते हैं। मांड़ना रूपांकन के लिए गैरू, खड़िया का प्रयोग करते हैं। लोक देवी–देवताओं के रूपांकन में लोक जीवन, धर्म–कर्म, आस्था, मान्यताऐं और आशा–विश्वास के कई गुण–धर्म मौजूद है। मंन्दिरों और देवरों में लोक–आलोक थरपित किये गये। जनमानस में लोक देवताओं की मान्यता पराम्परिक विचारों के तहत सहज पीढ़ी दर पीढ़ी और भारतीय लोक चेतना की अन्तःकरणी उजास की प्रकृति से अनुप्राणित है। आज लोक देवी–देवताओं की आराधना तो पारम्परिक विचारों की लीक से जुडी हुई है। मसलन, रामदेवजी व तेजाजी के थानकों पर आज भी हर वर्श मेला लगता रहा है।

4. कपडे पर निर्मित चित्र :– राजस्थान के भीलवाड़ा व शाहपुरा में 500 वर्ष पुरानी फड़ (पड़) चित्रण की परम्परा मौजूद है। छीपा जाति के जोशी परिवारों ने आज भी इस अनूठी लोकशैली फड़ के चित्रांकन की परम्परा को बरकरार रखा है। लोक कथाओं को आधार बनाकर फड़ चित्रण किया जाता है। फड़ चित्र भोपों के लिए बनाये जाते हैं, जो उनके जीविकार्पाजन का साधन है। भोपें मूलतः जैसलमेर, बीकानेर, नागौर जिले के निवासी है जो जोशी चित्रकारों से फड़ बनवाने आते रहते हैं। भोपें गाँव–गाँव घूमकर लोक कथाओं पर आधारित चित्रांकित फड़ का वाचन करते हैं। यह चारण भोपे गुर्जर, जाट, कुम्हार, बलाई जाति के होते हैं।

फड़ चित्रण के लिए सर्वप्रथम मोटे हाथ कते सूती कपडें पर गेहूँ या चावल के मांड में गोंद मिलाकर कलफ लगाया जाता है। सतह तैयार होने पर उसे घोटी से घोट–घोट कर समतल कर लिया जाता है। सतह तैयार होने के उपरान्त कथाओं के आधार पर रेखांकन व उनमें रंगाकन किया जाता है। गैरू, हिरमिच, हरताल, जंगाल, प्योडी, हिंगूल, सिंदूर, नील, चूना व काजल आदि रंगो का प्रयोग किया जाता है। लोगों में लोक देवी–देवताओं, लोक नायकों जैसे पाबूजी, देवनारायणजी, रामदेवजी, गोगाजी, हडबूजी, तेजाजी तथा माताजी की फड़ प्रचलित रही है। इनमें देवताओं के जीवन की चमत्कारी धटनाओं और लोकान्मुख विचारों को चित्रित किया जाता है। रंगो का प्रतिकात्मक प्रयोग भावाभिव्यक्ति पूर्ण है। देवियां नीली, देव लाल और सिंदूर रंगों से रूपायित है। सिंदूर, लाल रंग शौर्य व वीरता के द्योतक है।

देवनारायण की फड़ सबसे पहले बनायी गई। यह 13 से 25 हाथ तक लम्बी होती है। इस फड़ को गुर्जर भोपें जन्तर नामक वाद्य के साथ बांचते है। पाबूजी की फड़ को नायक भोपे रावण हत्था को बजाते हुये राग स्वरूप गाते हैं। इसके वाचन के साथ भोपिनि भी रहती है जो अपने हाथ में दीवट के लिए भोपे के गाथा बोलों को झेला देती है। पाबूजी के पड़ में रावण और ऊँटों के चित्र होते हैं। पाबूजी अपनी भतीजी को दहेज में देने के लिए रावण से लड़कर लंका से ऊँट लाए थे, यह ऊँट ही पाबूजी की पड़ का मुख्य प्रतीक है। चित्रों में पड़ गायों के बचाने की कथा के कारण गायों के झुण्ड़ पाबूजी और देवनारायण दोनों के कथा चित्रों में देखे जा सकते हैं।[3] भीलवाडा के श्रीलाल जोशी फड़ चितेरों में सबसे विख्यात है। इन्होंने अनेक देवी–देवताओं की फड़ का मनमोहक चित्रांकन किया। श्रीलाल जोशी ने बाबा रामदेव की पड़ का चित्रण किया तथा यह पड़ काफी प्रचलित हो गई है।[4] कल्याण जोशी ने पाबूजी की फड़ का रसमय चित्रण किया है।

पड़ चित्रकारों में भाहपुरा के श्री दुर्गेश जोशी को राष्ट्रपति पुरस्कार मिल चुका है तथा श्रीलाल जोशी को राश्ट्रपति का दो बार मेरिट अवार्ड मिला है।[5] श्रीलाल जी की हाथ की बनी फड़ विदेशों में पेरिस, अमेरिका, इंग्लेण्ड, हॉलेण्ड, जापान, फ्रांस, पाकिस्तान, बांग्लादेश, आस्ट्रेलिया आदि में वहाँ के संग्रहालयों तथा प्रतिश्ठित संस्थाओं की शोभा बनी हुई है।

फड़ चित्रण से प्रेरित होकर राजस्थान के आधुनिक कलाकार रामे" वर सिंह ने लोक देवी–देवताओं जैसे रामदेवजी, देवनारायणजी, गोगाजी, पाबूजी, माताजी की फड़ को चित्रण का आधार बनाया है इन्होने लोक देवी–देवताओं के इन फड़ चित्रों को अर्न्तमन में मथकर नवीन रूपों के साथ संयोजित किया। फड़ चित्रण के आकारीकरण की संवेदनाओं का सरलतम रूप विशयानुकूल आबद्ध है। वे आकृति मूलकता में लोक जन जीवन की धार्मिक भावना की उस लय को प्रस्तुत करते है जो वर्षो से सामाजिक परम्पराओं की वाहक बनी हुई है। इनके चित्रों में रूपायित आँखें राजस्थान के उन दर्शनीय लोक देवी–देवताओं को दर्शाती है जो यत्र–तत्र स्थापित लोक स्थानकों की देव आकृतियाँ में सुशोभित है।

5. कागज पर चित्र :– लोक जीवन की सुसंस्कारी वृत्तियों ने लोक कला को आधार प्रदान किया। राजस्थान के विभिन्न उत्सवों व त्योहारों के अवसर पर विभिन्न देवी–देवताओं की विधि विधान पूर्वक पूजा अर्चना करने की मान्यताऐं आज भी है। वैसे तो मानव दैनिक पूजा पाठ अपने–अपने घरों में भी करते हैं। कागज पर बने लोक देवी–देवताओं के चित्र (पाने) शुभ समृद्धि व आनन्द के द्योतक है। रामदेवजी, गोगाजी, तेजाजी, श्रवण कुमार, धर्मराज, देवनारायणजी, माताजी आदि के पाने प्रचलित है। इनमें गुलाबी, लाल, काले, सिंदूर रंगो का प्रयोग किया गया है। रामदेवजी के पाने में उनके पग्ल्ये, शक्ति अवतारी रूपी घोडे पर सवार रामदेवजी, पास में डाली बाई और सुगना बाई आरती करती हुई दिखाई गई है। तेजाजी के पाठे में नाग द्वारा तेजाजी को डंसते हुये दर्शाया गया है। धर्मराज के पाठे में हरी घोडी पर लाल पोषाक धारण किये धर्मराज को आकर्षक रूप में और इनके दोनों ओर काला–गौरा भैरूजी संयोजित है। इसी प्रकार हंस की सवारी में हंसमाता, भोर की सवारी पर नारासिंघी माता, उनके आगे गोरा तथा पीछे काला भैरु, ऊँट पर रेबारी देव एवं उनके साथ दो लाल, एक गुलाबी, दो हरे तथा एक आसमानी ऊँट दिखाये जाते है।[6] गाँव व कस्बों के लोगों में लोक देवी–देवताओं के पाने आज भी प्रचलित है।

6. मृण शिल्प :– राजस्थान के मोलेला गाँव का करीब 500 वर्ष पुराना इतिहास है। मोलेला में मृण शिल्प बनाने का पुश्तैनी धंधा वहाँ के कुम्हार परिवारों में आज भी बरकरार है। कुम्हार परिवारों के वंशजों के मुताबिक अमराजी और पद्माजी नामक कुम्हारों को यहाँ मूर्ति शिल्प प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जाता है। आज लगभग 35 प्रजापति परिवार यहाँ मृण शिल्प का कार्य कर रहे हैं। खेमराज, नवलजी, मोहनलाल, चतुर्भुज, डालचन्द, गोपीलाल आदि शिल्पकारों ने मोलेला के मृणशिल्पों का निर्माण कर ख्याति अर्जित की। खेमराज जी को सन् 1981 में राष्ट्रपति पुरस्कार मिला था। इसी प्रकार स्वर्गीय श्री चतुर्भुज को राज्य स्तरीय पुरस्कार मिला और मोहनलाल जी को पद्मश्री सम्मान। आज हिम्मत, लक्ष्मीलाल, जमनालाल, भयामलाल, मुकेश आदि कलाकार लोक देवी–देवताओं के मृणशिल्पों के साथ–साथ अन्य शिल्पों का निर्माण कर जीवन यापन कर रहे हैं।

कला समाज का दर्पण है। लोक देवी–देवताओं ने सामाजिक समरसता की स्थापना कर अपने आचरण से मानव का सुसंस्कार किया। सभ्यता एवं सांस्कृतिक विचारधारा के तहत लोक देवी–देवताओं का वही स्थान है जो शरीर में आत्मविश्वास का। अनादिकाल में जब मानव जीवन में सांस्कृतिक उद्बोध हुआ तब से लोक देवी–देवताओं की धार्मिक आस्था और जनचेतना उनकी सहचरी रही। इस रुप में मोलेला के कलाकार मृणशिल्पों का निर्माण कर सांस्कृतिक विचारधारा, धार्मिक आस्था और जनचेतना का संचार कर रहे हैं। सदियों से आर्थिक–विभीषिकाओं से संघर्षरत ये लोग धार्मिक भावनाओं से अभिभूत हो लोक देवी–देवताओं के मृणशिल्पों के निर्माण के माध्यम से एक विशिष्ट जीवन्त संस्कृति में जी रहे हैं।[7] मृणशिल्पों के निर्माण में कलात्मक दक्षता और लोक जीवन की विभिन्न आस्थाओं, विश्वासों का संगम है।

मृण शिल्प निर्माण के लिए कुम्हार आस–पास के तालाब की मिट्टी लाकर उनमें लगभग एक चौथाई गधे की लिद का मिश्रण करते है। मिट्टी को लोचदार बनाकर मृणशिल्प का निर्माण करते है। मृणशिल्प के पूर्णतया सूखने के उपरान्त उनको भट्टी में पकाते हैं। तत्पश्चात आवश्यकतानुसार उन पर रंगांकन करके आकर्शक बना देते हैं। कलाकार विभिन्न लोक शिल्पों के रूप में रामदेवजी, गोगाजी, तेजाजी, देवनारायण जी,

कल्लाजी, भैरूजी, नागदेवता, धर्मराज तथा देवियों के रूप में कालका, अम्बा, दुर्गा, रतनारायका, हंस माता आदि के मृणशिल्प के अतिरिक्त विभिन्न लोकशिल्पों का निर्माण करते रहे हैं। इन लोक कलाकारों के देवी–देवता भी अपनी स्वयं की विशेषताओं को लिए हैं और उनके बारे में कई कथाएँ एवं कहानियाँ भी प्रचलित हैं, जैसे–तकाजी, कालाजी–गोराजी, रतना रेबारी, धर्मराज बगड़ावत, महिशासुर मर्दिनी (नाहर पाड़ा), अम्बामाता, गोर किया माता, भान माता, गुणामेन्दु, हंसी माता (सरस्वती), गजगोर, सुहारवा, सुअर माता, पंखालु घोड़ा, मच्छी माता, मत्छयाकार रामदेव, इत्यादि लोक देवी–देवताओं की मृण–प्रतिमाओं के अतिरिक्त ये कलाकार जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति हेतु विविध रुपों में खिलौने भी तैयार करते रहते हैं।[8]

देवी–देवताओं को पारलौकिक दर्शाने हेतु उनके चार हाथ बनाये गये हैं एवं उनके सिर पर अलंकृत मुकुट सुशोभित है। उनके वाहन जैसे ,घोड़ा, शेर, हाथी, भैंसा, ऊँट आदि पर सवार दर्शाये गये हैं। यहाँ की दर्शनीय मृणशिल्पों में गोगाजी, तेजाजी, रामदेवजी को घोड़े पर सवार महापुरूषों के रूप में रूपायित किया गया है। दलित व आदीवासी लोग लोक देवी–देवताओं की पूजा करने हेतु इन मूर्तियों को यहाँ से खरीद कर ले जाते हैं। मध्य प्रदेश के इन्दौर व आसपास के क्षेत्रों से श्रद्धालुजन मोलेला तक पद यात्रा करके मूर्तियों को खरीदने के लिए आते हैं तथा वे लोग सिर्फ मोलेला की बनी मूर्तियाँ ही पूजते हैं। यहाँ की बनी कालका, अम्बा, रतनारायका इत्यादि देवी मूर्तियों को भील व मीणे तथा नाग देव व धर्मराज की मूर्तियों को गडरियें इत्यादि पूजते हैं।[9] इतना ही नहीं, लोक देवी–देवताओं में गहन आस्था रखने वाले व्यक्ति इनको अपनी–अपनी बस्तियों में प्रतिष्ठापित करने के लिये यहाँ से लेकर जाते हैं। इन लोक देव–प्रतिमाओं की पूर्ण सम्मान एवं आदर के साथ विशिष्ट समारोह के अन्तर्गत देवालयों, पूजागृहों व देवरों में प्रतिष्ठापना होती है।[10] लोक देवी–देवताओं के प्रति आस्था देश के दलित, आदिवासी लोगों में आज भी बरकरार है।

7. मूर्ति शिल्प :– लोक देवी–देवताओं के आध्यात्मिक रूपाकार अधिकतर धर्मपीठों, मन्दिरों में स्थापित किये गये हैं। जन समाज में इनका धर्म और आस्था के रूप में प्रचलन रहा है। रामदेवजी, तेजाजी, गोगाजी, देवनारायणजी, पाबूजी राठौड और विभिन्न देवीयों के छोटे–बड़े मंदिरों में मूर्तियाँ स्थापित है। यह कलात्मक प्रतिमाऐं लोगों के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन से जुड़ी विभिन्न परम्पराओं, आस्थाओं, अंधविश्वासों की सरल स्वभाविक विचारों को दर्शाती है।

प्राचीन काल से राजस्थान में वृक्ष पूजा का प्रचलन रहा। पीपल, खेजडा, तुलसी, ऑवला, आम, बरगद, आदि वृक्षों का पूजन करना आम जनता में धर्म व आस्था का प्रतीक रहा है। इसी प्रकार जलाशयों व नदियों को पूजने की परम्परा प्राचीन काल से जन साधारण में प्रचलन रहा है। राजस्थान में पहाड़ियों तथा नदियों के किनारे छोटे–बड़े मन्दिर बनवाये गये जिनमें स्थापत्य कला के साथ–साथ मूर्तियों को कलात्मकता के साथ तराशा गया हैं। देवी–देवताओं के बाहरी भागों में अक्सर यक्ष–यक्षिणियों की मूर्तियाँ उकेरी गई है। आदिम लोग वृक्ष, नदियों के साथ–साथ यक्ष–यक्षणियों की मूर्तियों को लोक देवी–देवताओं के रूप में पूजने लगे। यक्ष पूजा की भांति नाग पूजा भी बड़ी प्राचीन है, जो आर्येतर प्रभाव का परिणाम है। राजस्थान में गाँवों में नागों के फलकों का अर्चन पुराने जमाने से प्रचलित हैं। विशेष रूप से पशुओं की रक्षा की सम्भावना इनके पूजन से सम्बन्धित मानी गई है।[11] लोगों की सदियों पुरानी आस्था, परम्पराओं और विचारधाराओं में बदलाव आने लगा। आदिवासी और दलित लोगों ने ऐसे लोक देवी–देवतओं की आराधना प्रारम्भ की जिन्होंने महापुरूषों के रूप में नैतिक और लोकोपकारी जीवनयापन करते हुये त्याग तथा आत्म बलिदान से अपनी कर्म भूमि की सेवा को समर्पित हो गये। इतना ही नहीं, इन सांस्कारिक लोगों ने जनता का उत्थान एवं पशुओं की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग किया। इनमें गोगाजी, तेजाजी, पाबूजी, रामदेवजी आदि मुख्य थे जिनके भौर्य आत्मोत्सर्ग तथा लोक हितकारी कार्यो से अभिभूत होकर राजस्थान की जनता ने इन्हें आराध्य जैसा पूज्य दान किया।[12] लोक देवी–देवताओं की मूर्तियाँ तराशकर मन्दिरों में स्थापित की जाने लगी। वैसे तो राजस्थान में लोक देवी–देवताओं की मूर्तियाँ कई स्थानों पर बनने लगी है। झालरापाटन व झालावाड़ में सिलावटों के कई घर हैं जो अपने घर पर ही विभिन्न कलात्मक छतरियों के अलग–अलग भागों का शिल्पांकन कर दूसरे स्थान पर उनको आसानी से रोपा जा सकता है अर्थात् लगाया जा सकता है। ये सलावट पशु–पक्षियों के खिलौने, देवी–देवताओं में गणेशजी, माताजी, रामदेवजी, तेजाजी की मूर्तियाँ बनाकर मेलों में बेचते हैं।[13] मूर्तिकारों से लोग पूजा के लिये मूर्तियाँ बनवाते रहे हैं।

बीकानेर क्षेत्र में 14वीं सदी के राजपूत वीर

गोगाजी चौहान थे इन्होंने एक योगी की भांति जीवनयापन किया। आक्रमणकारियों से गो रक्षा में अपने प्राण न्यौछावर कर दिये जिससे वे लोक देवता के रूप में पूजे जाने लगे। भाद्रपद कृष्णा नवमी को पूजा करना तथा गोगा मेडी आदि स्थानों पर उनके नाम के मेले भरना लोक देवत्व का प्रमाण है। गोगाजी की सर्प आकृति की मूर्तियों का स्थल अक्सर खेजड़ी के वृक्ष के नीचे हेता है। गोगाजी को सांपों के देवता के रुप में पूजते हैं। लोक विश्वास है कि गोगाजी की पूजा करने वाले व्यक्ति को सर्प काटने पर विष नहीं चढ़ता है गोगाजी का जाहिर पीर (साक्षात् देवता) कहकर पूजने से सर्प दंश का विष प्रभावहीन हो जाता है।[14] गोगाजी की भांति पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के तेजाजी, पाबूजी, मल्लिनाथ, देवजी आदि भी लोकदेव हुए हैं जिन्होने अपने आत्मोत्सर्ग द्वारा तथा सादा और सदाचारी जीवन बिताने के कारण अमरत्व प्राप्त किया।[15] पाबूजी राठौर मारवाड के ऐसे वीर थे जिन्होंने गायों की रक्षार्थ वीर गति पाई। 14वीं सदी के इस वीर का मन्दिर करौली के पास बना हुआ है। मेहाजी मांगलिया तथा उनके पुत्र हरभू उसी प्रकार सिद्ध योगी और महापुरूश माने जाते है जिस प्रकार तंवर वंशीय अजमाल जी के पुत्र रामदेव। ये सभी मारवाड़ (जैसलमेर, पोकरण आदि) क्षेत्र के पन्द्रहवीं सदी के वीर थे और अपने अलौकिक कृत्यों से 'पीर' की तरह पूजे जाने लगे।[16] अनुसूचित जातियों के लोगों में इनकी बहुत अधिक मान्यताऐं हैं। पोकरण के पास रूणेचा गाँव में इनकी समाधि स्थल पर हर वर्ष भादवा में मेला लगता है। इसी प्रकार मारवाड में नागौर के गोरक्षक तेजाजी वीर हुये। यह जाटव समाज के लोक देवता है जिनके नाम से सांप काटने पर डोरा बांधा जाता है।

राजस्थान में अनेक स्थानों पर देवनारायण जी के मन्दिर है। गुर्जर समाज के लोग इनकी पूजा अर्चना करते है। कछवाहों की कुल देवी जमवाय माता, महाकाली मानी जाती है। हांलाकि जनसाधारण लोग भी इनकी पूजा अर्चना करते है। करौली की कैलादेवी और देशनोक (बीकानेर के निकट) की करणी माता ऐसी ही लोक देवीयाँ थी जो अब दुर्गा के रूप में पूजित हैं। करणी माता चारणों की लोक देवी थी, किन्तु अब अन्य वर्ग भी इन्हें दुर्गा के अवतार के रूप में पूजते हैं।[17] इनकी मान्यता श्रद्धालुओं में इतनी है कि राजस्थान से ही नहीं बल्कि देश के अनेक स्थानों से भी इनके दर्शन करने आते है। लोगों का विश्वास है कि कैलादेवी के आर्शिवाद से पुत्र प्राप्ति और सौभाग्य भाली जीवन की कामना पूर्ण होती है। सकराय माता का मन्दिर सीकर जिले में स्थित है। अकाल पीड़ित जनमानस को बचाने और उनकी रक्षा के लिए इन्होंने फल–सब्जियों, कंदमूल उत्पन्न किये थे, इसलिए यह देवी भााकाम्भरी भी कहलायी। यहाँ रूद्राणी और ब्रह्माणी के रुप में देवी जी की दो मूर्तियाँ विराजमान है।[18] इसी प्रकार अरावली पर्वतमाला की उपत्यका में जीण माता का मन्दिर स्थापित है जो भोखावाटी की लोक देवी के रुप में प्रसिद्व है। कहा जाता है कि यहाँ जीण माता ने तपस्या करके देवत्व सिद्वि प्राप्त की तथा साधना और ब्रह्मचार्य के बल पर दुर्गा का सम्मान प्राप्त किया। दसवीं भाती में निर्मित जीण माता का मन्दिर स्थापत्य कला तथा मन्दिर के मुख्य मंड़प के स्तम्भों और छत पर उत्कीर्ण वाममार्गी मूर्तियों की कलात्मकता का प्रतीक है। इस मन्दिर में आठ भुजाओं वाली देवी की आदमकद प्रतिमा है।[19] यह मन्दिर वर्षों से तान्त्रिकों की आराधना स्थली रहा है। यहाँ वर्श के दोनों नवरात्रों चैत्र और अश्विनी के भाुक्ल पक्ष में मेले भरते हैं। मेले में देश के विभन्न समुदाय के लोगों की दर्शनीय आस्था और भावनात्मक एकता देखी जाती है।

निष्कर्ष एवं भावी शोध संभावनाएं– राजस्थान में लोग लोक देवी–देवताओं की आराधना लोक जनजीवन में रची बसी है। कला का परिवेश भी मानव के जन्म के साथ ही इस दुनिया में प्रतिबिम्बित होने लगा है। ज्यों–ज्यों समाज में पारम्परिक विचारधाराऐं बनती गई त्यों–त्यों जनमानस में उनकी विचारधाराओं और मान्यताओं के अनुकूल लोक देवी–देवताओं की आराधना की जाने लगी। मैनें राजस्थान की कला में लोक देवी–देवता एक जन चेतना विषयगत इस भाोध पत्र के माध्यम से एक संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया है। राजस्थान के लोक देवी–देवताओं के रूप में सामजिक समरसता के प्रतीक बाबा रामदेवी पीर, पाबूजी राठौड, देवनारायणजी, कल्लाजी राठौड, रूपनाथजी, मांगलिया मेहाजी, बिग्गाजी महाराज, तेजाजी, हरबूजी सांखला, करणी माता, दुर्गा माँ, आमलकी एकादशी, मंशा देवी, कछवाहों की कुल देवी जमवाय माता, महाकाली आदि किसी न किसी चमत्कार के कारण अलौकिक व शक्तिशाली माने जाते हैं। कला में इन लोक देवी–देवताओं का विषयगत अध्ययन तो संभव है ही वहीं माध्यमगत तकनीकि और क्षैत्रीय लोक कला एक भावी शोध संभावनाओं को उजागर करती है।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. संपादक :– नीरज, डॉ. जयसिंह, भार्मा, डॉ भगवतीलाल : राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 93
2. सम्पादकः– सुमहेन्द्र : आकृति 80, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 57
3. सम्पादकः– उपाध्याय, विद्यासागर : आकृति, रजत जयंति अंक, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 24
4. वही, पृष्ठ, 23
5. वही, पृष्ठ, 24
6. सम्पादकः– सुमहेन्द्र : आकृति 80, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 57
7. सम्पादकः– उपाध्याय, विद्यासागर : आकृति, लोक कला विशेषांक, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 20
8. सम्पादकः– उपाध्याय, विद्यासागर : आकृति, लोक कला विशेषांक, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 23
9. सम्पादकः– सुमहेन्द्र : आकृति 80, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 14
10. सम्पादकः– उपाध्याय, विद्यासागर : आकृति, लोक कला विशेषांक, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 21
11. शर्मा, डॉ. गोपीनाथ : राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 108
12. ढाका, डॉ. सुमन : राजस्थान के लोक देवी–देवता एक जन चेतना, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृष्ठ, 52
13. सम्पादकः– उपाध्याय, डॉ. विद्यासागर : आकृति, हाड़ौती कला विशेषांक, राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 41
14. ढाका, डॉ. सुमन, : राजस्थान के लोक देवी–देवता एक जन चेतना, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृष्ठ, 55
15. शर्मा, डॉ गोपीनाथ : राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 109
16. संपादक :– नीरज, डॉ जयसिंह, शर्मा, डॉ भगवती लाल : राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पृष्ठ, 32
17. वही, पृष्ठ, 31
18. ढाका, डॉ. सुमन, : राजस्थान के लोक देवी–देवता एक जन चेतना, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृष्ठ, 61
19. वही, पृष्ठ, 64

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

भक्तिकालीन वैष्णव साहित्य का महत्व एवं समकालीन परिवेश में उसकी प्रासंगिकता

डॉ.सियाराम मीणा
(एसो.प्रोफेसर) हिन्दी विभाग राजकीय महाविद्यालय, बूंदी

सारांश : वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने समूचे भारत वर्ष में एक नई चेतना जगाई, जिससे राम और कृष्ण दोनों के आदर्श रूपों की भक्ति पूरे देश में व्याप्त हो गई। यह केवल भक्ति आन्दोलन नहीं था; यह एक सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण था। इस संदर्भ में यह तथ्य भी स्पष्ट है कि राम काव्यधारा और कृष्ण काव्यधारा में अनेक कवि और आचार्य हुए जिन्होंने राम और कृष्ण कथा का विस्तार तथा संबंधित सम्प्रदाय के भक्ति मार्ग की सैद्धांतिक और दार्शनिक स्थापनाएं और विवेचनाएं की, लेकिन राम कथा, कृष्ण कथा और भक्ति को घर–घर पहुंचाकर उसमें लोकमंगल–विधायक रूप और सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक चेतना का गुम्फन किया; उसमें प्रथम और अंतिम रूप राम के तुलसीदास और कृष्ण के सूरदास ही सर्वोपरी हुए हैं। भक्तिकाल में जिन कालजयी मूल्यों और आदर्शों की स्थानाएं हुए, उनमें वैष्णव साहित्य का योग सर्वाधिक है। इन मूल्यों की आभा कभी भी कमजोर नहीं पड़ सकती। इस साहित्य का अध्ययन–मनन हर युग में मानव को नई दिशा देगा। इस पर भाोध–अनुसंधान की प्रासंगिकता हमेशा रहेगी।

आज मानव समाज भौतिक एव वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उन्नति कर चुका है; लेकिन सांस्कृतिक, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के धरातल से निरंतर दूर होता जा रहा है। हमारा सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक एवं मूल्यपरक जीवन खत्म होता जा रहा है। हर तरफ रिश्वत, भ्रष्टाचार, नैतिक मूल्यों के ह्रास से उत्पन्न अमानुसिक घटनाएं, सामाजिक ताने–बाने का बिखराव, वैमनष्य, साम्प्रदायिकता, संकीर्णता तथा बिखराव का वातावरण, भौतिक एवं विलासी जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। ऐसे वातावरण में वैष्णव साहित्य में निहित मूल्यों एवं सामाजिक सरोकारों का योगदान कम नही माना जा सकता। ये वे मूल्य है जिन्होंने भारतीय जन मानस को मध्यकाल के अंधकरपूर्ण वातावरण में रोशनी की किरण दिखाई थी। आज भी ये मूल्य समाज और व्यक्ति के प्रति उतनी ही प्रासंगिकता रखते हैं जितनी पहले। वैष्णव कवियों के सामाजिक सरोकारों एवं उनकी प्रसांगिकता को जानने के लिए उस साहित्य का अध्ययन एवं शोध का महत्व कम नही है। इस पर शोध से वैष्णव साहित्य में निहित मूल्यों का प्रचार–प्रसार हो सकेगा। भक्तिकालीन वैष्णव साहित्य ने भारतीय जन मानस में जीवन के प्रति आस्था, भक्ति, श्रद्धा तथा नैतिक जीवन को प्रगाढ़ कर विश्रृंखलित जीवनदशा को फिर से नव–निर्माण की ओर अग्रसर किया था। इस साहित्य ने राम और कश्ण कथा के माध्यम से स्थाई जीवन मूल्यों और आदर्शों की स्थापना तथा बिखरते समाज और टूटते मानव को भाक्ति, विश्वास, आस्था और जिजीविशा प्रदान की थी। वैष्णव कवियों द्वारा रचित ग्रंथ मात्र धार्मिक या सांप्रदायिक ग्रंथ नहीं है; सामाजिक चेतना के दस्तावेज हैं।

प्रस्तावना : मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति आन्दोलन धार्मिक आवरण में सामाजिक चेतना का एक ऐसा आन्दोलन था, जिसमें स्थापित सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य युगों–युगों तक मानवता का पथ–प्रदर्शन करते रहेंगे। इस आन्दोलन में रचित साहित्य के माध्यम से मध्ययुगीन अलस, आदर्शहीन तन्द्रा में लीन भारतीय समाज ने चेतना की नई ज्योति प्राप्त की थी। भक्ति आन्दोलन की भावधारा में रचा गया साहित्य समस्त लोक, समाज तथा मानव को अपनी सृजन कारा में समेटता लेता है। मध्ययुग की सामाजिक विषमता, धार्मिक विश्रृंखलता एवं नैतिक अधःपतन के मध्य वैष्णव भक्त कवियों ने आस्था और नैतिकता का शिलान्यास किया; वह भारतीय समाज के लिए अद्वितीय वैश्विक उपलब्धी है। विष्णु के विभिन्न अवतार हुए लेकिन 'राम और कृष्ण अवतार ही सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्रतिष्ठा पा सके।'[1] भक्तिकाल में वैष्णव भक्त कवियों से तात्पर्य इन्हीं दो अवतारों के कवियों और उपासकों से माना जाता है। डॉ.सुरेन्द्र मोहन प्रसाद ने लिखा है कि 'वैश्णव' अर्थात विष्णु के उपासक और वैष्णव साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से होना चाहिए जिसमें वैष्णव दवेता को आलंबन बनाया गया हो'[2] रामकाव्य और कृष्णकाव्य में असंख्य कवियों का योगदान रहा है। वैष्णव भक्ति को विविध रूपों में स्थापित करने वाले आचार्यों का युग 11वीं भाताब्दी से सोलवीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य, रामानन्द तक इसमें आ जाते हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त राम और कृष्ण के उपासक कवि,

भक्त एवं महात्मा भी इसमें आ जाते हैं, जिनमें कृष्ण चैतन्य, ईश्वरदास, नाभादास, गोस्वामी तुलसीदास,सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास, परमानन्द दास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास, चतुर्भुजदास तथा हरिव्यासदेव, परशुराम देव, हित हरिवल्लभ, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, स्वामी हरिदास आदि कवि हुए। वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने समूचे भारत वर्ष में एक नई चतना जगाई, जिससे राम और कृष्ण दोनों के आदर्श रूपों की भक्ति पूरे देश में व्याप्त हो गई। यह केवल भक्ति आन्दोलन नहीं था; यह एक सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण था। इस संदर्भ में यह तथ्य भी स्पष्ट है कि राम काव्यधारा और कृष्ण काव्यधारा में अनेक कवि और आचार्य हुए जिन्होंने राम और कृष्ण कथा का विस्तार तथा संबंधित सम्प्रदाय के भक्ति मार्ग की सैद्धांतिक और दार्शनिक स्थापनाएं और विवेचनाएं की, लेकिन राम कथा, कृष्ण कथा और भक्ति को घर–घर पहुंचाकर उसमें लोकमंगल–विधायक रूप और सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक चेतना का गुम्फन किया उसमें प्रथम और अंतिम रूप से राम के तुलसीदास और कृष्ण के सूरदास ही सर्वोपरी हुए हैं।

साहित्य समीक्षा तथा विशय का महत्व एवं उपयोगिता :

भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण राम के लोकरक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था। विदेशी शक्तियों से आक्रांत, सामाजिक दृष्टि से वैशम्य–पीड़ित, धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तांत्रिकों के विविध मत–मतांतरों से ग्रस्त नैराश्य–मुक्त हिन्दू जनता को राम के असुर–संहारक, शरणागत–प्रतिपालक अलौकिक रूप ने मधुमय सम्बल प्रदान किया।''[3] वैष्णव भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप भारत में जिस साहित्य का प्रणयन हुआ वह मात्र साहित्य ही नहीं उसमें देश की सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक, सांस्कृतिक, वैचारिक, राजनीतिक, आर्थिक, समष्टि–व्यष्टि आदि सभी क्षेत्रों में नव जागरण, उन्नति एवं नव–निर्माण की भावना की अभिव्यक्ति का आन्दोलित रूप दिखाई देता है। उस साहित्य में भारतीय संस्कृतिक और मानवीय मूल्यों की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह अनूठी है। भारतीय जन–मानस पर उसका जो प्रभाव है, वह अपने–आप में अनुपम है। इस काल के वैष्णव कवियों द्वारा रचा गया साहित्य समाज और व्यक्ति का उद्धार करने वाला है। इस साहित्य का मात्र अध्ययन–मनन भी व्यक्ति को असीम भाांति प्रदान करता है। उसमें निहित मूल्य किसी भी काल खण्ड में अप्रासंगिक नही होंगे। उसके अनुसंधान और शोध से हर समय नये–नये मूल्य ही प्राप्त होंगे। यद्यपि भक्ति काल के वैष्णव साहित्य एवं उसके कवियों पर हिन्दी में पर्याप्त अनुसंधान हुआ है, लेकिन अनुसंधान और भाोध में नवीन स्थापनाओं की हर समय संभावना रहती है। आज मानव समाज भौतिक एव वैज्ञाानिक दृष्टि से बहुत उन्नति कर चुका है लेकिन सांस्कृतिक, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के धरातल से निरंतर दूर होता जा रहा है। हमारा सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक एवं मूल्यपरक जीवन खत्म होता जा रहा है। हर तरफ रिश्वत, भ्रष्टाचार, नैतिक मूल्यों के ह्रास से उत्पन्न अमानुसिक घटनाएं, सामाजिक ताने–बाने का बिखराव, सामाजिक वैमनष्य, साम्प्रदायिकता, संकिर्णता, भौतिक एवं विलासी जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। ऐसे वातावरण में वैष्णव साहित्य में निहित मूल्यों एवं सामाजिक सरोकारों का योगदान कम नही माना जा सकता। ये वे मूल्य है जिन्होंने भारतीय जनमानस को मध्यकाल के अंधकारपूर्ण वातावरण में रोशनी की किरण दिखाई थी। आज भी ये मूल्य समाज और व्यक्ति के प्रति उतनी ही प्रासंगिकता रखते हैं जितनी पहले। वैष्णव कवियों के सामाजिक सरोकारों एवं उनकी प्रासंगिकता को जानने के लिए उस साहित्य का अध्ययन एवं भाोध का महत्व कम नही है। इस पर भाोध से वैश्णव साहित्य में निहित मूल्यों का प्रचार–प्रसार हो सकेगा।

भक्तिकालोन वैष्णव साहित्य : महत्व एवं प्रासंगिकता :

वैष्णव भक्त कवियों ने अपनी भक्ति में प्राणिमात्र के प्रति दया, प्रेम और उदारता की भावना का प्रसार किया। इसका लक्ष्य मानव–मात्र के हृदय में भक्ति–भाव जागृत करके भटके हुए व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलाना था। वैश्णव भक्ति साहित्य ने समाज में कला, संस्कृति और धर्म के प्रसार में अहम भूमिका निभाई है। इस आन्दोलन के बल पर भारत में जो साहित्य रचा गया वह साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यानुप्रणित है। वैष्णव भक्ति के वैशिष्ट्य को निरूपित करते हुए **डॉ.विजयेन्द्र स्नातक** ने लिखा है कि वैष्णव भक्ति का वैशिष्ट्य अनेक रूपों में समाज में प्रतिबिंबित हुआ। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और उदार दृष्टि इस भक्ति का आधार है। अहिंसा वैष्णव धर्म का दूसरा आधार है। अहिंसा भाव को जीव दया के रूप में बौद्ध और जैनाचार्यों ने वैष्णवों से ही ग्रहण किया था। वैष्णव धर्म कला और संस्कृति का उन्नायक रहा है।

वैष्णव धर्म के आचार्यों तथा रसिक कवियों ने 'भक्ति रस' की स्थापना में योग दिया है। यदि वैष्णव भक्ति का उदय नहीं हुआ होता, तो भक्ति को रस के रूप में स्वीकृति मिलना असंभव था। यदि वैष्णव भक्ति का प्रचार न हुआ होता, तो इतना विपुल और श्रेष्ठ साहित्य अस्तित्व में न आता। राम और कृष्ण के रूप, गुण–शील का जैसा साहित्यिक वर्णन वैष्णव भक्त कवियों द्वारा हुआ, वैसा न तो पहले हुआ था और न बाद में हो सका। भारतीय साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य का मणिकांचन संयोग इसी वैष्णव–भक्ति–साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। फलतः इस साहित्य को हम भारतीय वाङमय की श्रेष्ठ निधि के रूप में गौरवास्पद धरोहर समझते है।''[4] यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन एवं साहित्य का सामाजिक चिन्तन भारतीय इतिहास में सार्वकालिक, सार्वजनीन महत्व का है। भक्तिकालीन वैष्णव साहित्य का लक्ष्य जगत का मंगल करना है। तुसलीदास ने राम कथा का लक्ष्य जगत का मंगल करना ही बताया है। वह स्वांतः सुखाय के स्थान पर सर्वांतः सुखाय के लिए सृजन है। जैसा कि उन्होंने लिखा है कि– ''मंगल करनि कलि मल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।'' राम और कृष्ण भक्तिधारा की सम्पूर्ण उपलब्धियां तुलसीदास और सूरदास के साहित्य में समाहित हो गई है। इसलिए भक्तिकाल की उपलब्धियों और साहित्य का मूल्यांगकन इन कवियों के बिना अधूरा है। रामानन्द की शिष्य परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास आदि राम काव्यकारों ने सगुण ब्रह्म राम के लोक रक्षक रूप को जगत के कर्मक्षेत्र में अवतरित किया। रामकाव्य में जीवन के समस्त क्षेत्रों में कर्मण्यता एवं आदर्श का परिपाक हुआ। तत्कालीन दुर्बल जीवन–दर्शन, डगमगाती हुई नैतिकता और कम्पित होती हुई कर्तव्य भूमि में इस सर्वांगीण उदात्त आदर्श ने जीवनोन्मेश किया। रामकाव्य के कवियों ने राम के लोक संग्रहकारी रूप के आलोक में श्रुति–सम्मत मार्ग का निर्देश किया।[5] इसलिए सारभूत रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास का काव्य लोकमंगल की साधनावस्था का काव्य है, जीवन की भोगवादी वह प्रवृत्ति जो व्यक्ति को कर्म क्षेत्र से विरत करती है; का कोई महत्व नहीं है। इसमें धर्म और साहित्य की नही, मनुष्य और समाज की प्रधानता है। मानव की समस्त मनोवृत्तियों को तुलसीदास ने परिमार्जित करने के लक्ष्य से काव्य का प्रणयन किया है। इससे प्रमाणित होता है कि 'रामचरित मानस का लक्ष्य आत्मपक्ष और लोक पक्ष दोनों का समन्वय करना रहा है।'[6] रामचरित मानस में भरत की ग्लानि के पीछे लोक मर्यादा और लोक व्यवहार की पवित्रता ही है, अन्यथा भरत का कोई दोष नहीं था लेकिन तुलसीदास जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि हमें अपनी दृष्टि में ही नही लोक की दृष्टि में भी सही और अनुकरणीय होना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील है, पर लोक भ्रमवश या और किसी कारण से हमें बुरा समझ रहे हैं तो हमारी सात्विकशील समाज के किसी उपयोग की नहीं है। हम अपनी सात्विकशीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायें, पर अपने पीछे दस पांच दिन के लिए भी कोई भुभ प्रभाव न छोड़ जायेंगे। ऐसे एकांतिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण में भरत ऐसे पुण्यलोक को सामने करता है।'[7] राम स्वयं भरत के लिए कहते हैं कि –मिटहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस, परलोक सुख, सुमिरन नाम तुम्हार।' मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों में धर्म, दर्शन और सामाजिक चिन्तन की दृष्टि से तुलसीदास सर्वोपरी है। वे समन्वयकारी संत के रूप में विख्यात है। 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन दर्शन स्वस्थ्य और संतुलित है। आदर्श और मर्यादा ही उनकी आधार स्थली है। मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में आदर्श एवं कर्तव्य का उत्कर्ष दिखाना ही उन्हें अपेक्षित रहा। भगवान राम के लोक रक्षक स्वरूप को वर्णनीय बताकर, उस दिव्य शक्ति की कल्याण–विधायिनी शक्तियों के साक्षात्कार द्वारा उन्होंने जन–हृदय को आश्वस्त कर, उसे कर्तव्य मार्ग पर प्रदर्शित किया है। तुलसीदास जी ने तद्युगीन कवियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि कविता, यश और वाणी वही सद और प्रशंसनीय है जो सबके लिए सुखकारक हो। यथा– कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरी सम सब कर हित होई।'[8]

हिन्दी में कृष्ण काव्य का प्रारंभ विद्यापति से माना गया है, किन्तु विद्यापति पर संस्कृत में 'गीतगोविन्द' के रचयिता कविवर जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण–काव्य का सूत्रपात जयदेव से माना जाना चाहिए। जयदेव के गीत गोविन्द की परंपरा में निर्मित विद्यापति की पदावली में राधा–कृष्ण की प्रेम–क्रिड़ाओं का माधुर्यपूर्ण वर्णन हुआ है, उनका

कृष्ण–भक्ति–काव्यधारा में विशेष महत्व है। हिन्दी में कृष्ण काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने वाल प्रमुख सम्प्रदाय है– वल्लभ सम्प्रदाय, गौडीय सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय। वल्लभाचार्य ने कृष्ण–काव्य के प्रणयन में महान योगदान दिया। उन्होंने सूरदास आदि कवियों को लीलागान की प्रेरणा दी। सूरदास के काव्य में कृष्णकाव्य का चरमोत्कर्ष मिलता है। वे पुष्टि मार्ग के जहाज थे। अष्टछाप के कवियों का कृष्ण–काव्य महत्वपूर्ण है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में हितहरिवंश, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, नेही नागरीदास, चाचा हित वृन्दावनदास, हरिदासी सम्प्रदाय के हरिदास जी चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवियों में श्री भट्ट, सूरदास मदनमोहन आदि प्रसिद्ध है। उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त कृष्ण काव्य के विकास में योगदान करने वाले अन्य भक्त कवियों में मीराबाई, नरोत्तमदास, रसखान, रहीमदास, नरहरि बन्दीजन, गंग आदि प्रमुख है।'[9] इन कवियों ने समाज में भक्ति और प्रेम की मधुर रस धारा का प्रवाह कर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की तथा समाज को सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से उन्नति की ओर अग्रसर किया।

कृष्णकाव्य में कृष्ण लीलाओं का भावपूर्ण विस्तार और व्यापकता भक्त को भक्तिरस में डूबो देने वाली है। कृष्ण काव्य को चरमप्रकर्श पर पहुंचाने में सरूदास का मुख्य स्थान है। वे हिन्दी साहित्यकाश में सूर्य के समान माने गये हैं। कृष्ण काव्य धारा के कवियों की दृष्टि यद्यपि समाज के यथार्थ की ओर नही गई किन्तु उन्होंने भक्ति का जो अमृत और मधुर रस समाज में फैलाया वह व्यक्ति को आन्तरिक रूप से निर्मल, नैतिक और सद् आचरण के लिए प्रेरित करने वाला है। कृष्ण काव्यधारा के साहित्य ने समाज में आत्म विश्वास और भक्ति का निर्मल मार्ग प्रशस्त किया। मानव मन में असंख्य भाव निहित होते हैं जिन्हें प्रभाव की दृष्टि से सत् और असत् वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सत् भाव मन का उन्नयन करते हैं और असत् भाव पतनोन्मुखी बनाते हैं। मन का उन्नयन आदर्श जीवन का उद्देश्य होता है, इसलिए अनादिकाल से ही सत् भावों का ग्रहण और असत् भावों का त्याग मानव–मन का परम पुरूषार्थ माना गया है।[10] मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों ने मानव मन की असद् वृत्तियों का शमन कर सद्वृत्तियों के उन्नयन हेतु प्रेम और भक्ति का प्रचार–प्रसार किया है। सूरदास ने प्रेम तत्व की महता का वर्णन कर बताया है कि प्रेम ही वह शक्ति है जो संसार का व्यवस्थित रूप से संचालन करती है, परमार्थ की प्राप्ति का कारण होती है। प्रेम से ही इहलौकिक तथा पारलौकिक सिद्धियाँ मिलती है।[11] और अंततोगत्वा आत्मा को परमब्रह्म का साक्षात्कार होता है–'प्रेम प्रेम तैं होइ, प्रेम तैं पारहिं पइये।/प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लइये।/एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।/साँचौ निश्चय प्रेम को,जहि रे मिलै गुपाल।' सभी भक्त कवियों ने मन के विकारों को दूर करने की बात कही है। विकारों से ग्रस्त व्यक्ति कभी भी सद मार्ग पर नही चल सकता है। सूरदास जी अपने आराध्य भगवान श्री कृश्ण से अपने मन के समस्त विकारों को नष्ट करने का निवेदन करते हुए कहते हैं कि – 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल/काम–क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल/महा मोह के नूपुर बजावत निन्दा शब्द रसाल/कोटिक कला काछि दिखराई, जल, थल सुधि नहिं काल/सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहु नन्दलाल।' ये पद केवल भक्ति के सीमित अर्थ तक सीमित नहीं है। मानव जीवन से इसका गहरा रिस्ता है। समाज में उन्नति केवल भौतिक ही नहीं आध्यात्कि भी होती है। आध्यात्मिक उन्नति के बिना भौतिक उन्नति बांझ के समान होती है। आज मानव भौतिक उन्नति करता हुआ विज्ञान के सहारे आसमान के तारे तोड़ रहा है; लेकिन उसके आध्यात्मिक और नैतिक जीवन का पतन होता जा रहा है जिसके कारण आधुनिक समाज कई तरह के विकारों से ग्रस्त होता जा रहा है। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में संतुलन न होने के कारण आधुनिक मानव विकार ग्रस्त होकर मानसिक रूप से बीमार–सा हो गया है। ऐसी स्थिति में मध्यकालीन वैश्णव भक्त कवियों द्वारा साहित्य और भक्ति के माध्यम से जो आत्मोन्नति का मार्ग दिखलाया गया है; वह आज भी अपनाने योग्य है। सूर, तुलसी, मीरां, रसखान आदि कवियों ने ऐसे असख्य गैय पदों की रचना की है जिनकी भाव लहरी में डूबकर भक्त क्या साधरण व्यक्ति भी भक्तिरस का आनन्द तो लेता ही है, नैतिक जीवन का पाठ भी पढ़ता है। इन कवियों की यह भक्ति वैयक्तिक–सी लगने वाली सर्वजन समाज में व्याप्त हो कर समाज में एक अलग ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करती है। इन कवियों को ईश्वर की भक्त वत्सलता पर अटूट विश्वास है। सूरदास जी लिखते है कि 'जापर दीनानाथ ढरै/सोई कुलीन, बड़ौ सुन्दर साई, जिहिं पर कृपा करै' या आजु हौं एक–एक करि टरिहौं, कै तुमहीं के हमहीं माधै, अपने भरोसैं लरिहों, तो मीरा बाई कहती

है कि मन रे परस हरि के चरणा/सुभग शीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण या हरि ! तुम हरो जन की पीर/द्रोपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर। जैसे असंख्य पद हैं जिन पर भक्त मुग्ध होते हैं।

तुलसीदास ने मानव मन को परिस्कृत और निर्मल करने की बात पद–पद पर कही है। मन ही समस्त विकारों– सकारात्मक व नकारात्मक, का जनक है इसलिए सद्वृत्तियों के विकास हेतु भक्तिकालीन वैष्णव भक्त कवियों ने मन के परिष्कार पर सर्वाधिक बल दिया है। मनुष्य की अभिरूचियां और सौंदर्यबोध मन के संस्कारों द्वारा ही निर्मित होते हैं इसलिए चंचल मन को नियंत्रित और परिष्कृत करने की बात हर भक्त कवि ने कही है। भगवान श्री राम तुलसी के आराध्य देव है और उनका जीवन और साधना उन्हीं को समर्पित है; यह सत्य है लेकिन सामाजिक चिन्तन और साहित्य के सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से देखा जाये तो यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि तुलसी के मानस–मंदिर से समाज और व्यक्ति कहीं भी ओझल नहीं हुआ है, उनकी हर पंक्ति समाज में कोई नया आदर्श प्रस्तुत करती व्यक्तिमन को संस्कारित करती है। मन ही समस्म धर्मों और विकारों का जन्मदाता है। मन का परिश्कार धर्मों और विकारों का परिष्कार है। भगवान बुद्ध ने भी अपने उपदेशों में कहा है कि 'मनोपुब्बगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया/मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा/ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी।'[12] मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य की नींव इसी भावना और लक्ष्य पर आधारित है। चाहे तुलसी साहित्य हो या सूर साहित्य हो या अन्य कवियों द्वारा रचित साहित्य हो। आज के मानव समाज में नैतिकता और संस्कारों के कमजोर होने की बात और तद्जनित चिन्ता मुखर होती जा रही है। भौतिकता और आधुनिकता की चकाचौंध में संस्कार और नैतिकता बेमानी से दिखाई देने लगे हैं जिसके परिणाम मानव समाज के लिए हितकर होने वाले नहीं है। ऐसी स्थिति में मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों द्वारा रचित साहित्य और साहित्य में निहित मूल्य आज भी हमारे समाज का मार्गदर्शन करने के लिए पूर्ण प्रासंगिक और हितकर है। यह साहित्य स्वर्णिम आभा से मंडित है, जिसकी चमक कभी कमजोर पड़ने वाली नहीं है।

तुलसीदास कलिमल को धोने की बात कहते हैं, उन्होंने कलिमल का प्रयोग वैयक्तिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन भर आई मिट्टी के लिए ही किया है। तुलसीदास ने अपने काव्य में कलियुग और समाज पर उसके समस्त प्रभावों–दुष्प्रभावों को भलि–'भांति व्याख्यायित किया और तदन्तर उसे धोने का प्रयास किया है, जिससे कि समाज और व्यक्ति उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। तुसलीदास जी विनय पत्रिका में लिखते हैं कि– कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो/श्री रघुनाथ कृपा तें संत सुभाव गहौंगो/जथालाभ संतोश सदा काहू सों कछु न चहौंगो/परहित निरत निरंतर मन क्रम नेम निबहोंगो/परूष वचन अतिदुसह स्त्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो/विगत मान सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो।' यह एक प्रकार से तुलसीदास जी की तद्युगीन मानव मन के समस्त विकारों को प्रक्षालित करने का ही संकल्प था। व्यक्ति जब तक अपने मन के विकारों को दूर नही करेंगा तब तक न वह स्वयं का उद्धार कर सकेगा और न ही समाज का। मन के विकारों– राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, तृष्णा को छोड़ कर व्यक्ति कई प्रकार के दुखों से मुक्त हो जाता है, यथा– जो निज मन परिहरै विकारा/तो कत द्वैत जनित ससंसृति दुःख संशय सोक अपारा/रघुपति भक्ति बारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै/तुलसीदास कह चित विलास जग बूझत–बूझत बूझै।

यदि मध्यकालीन साहित्य की सामाजिक चिन्तन की दृष्टि से व्याख्या की जावे तो वैष्णव साहित्य में रामकाव्य और रामकाव्य में तुलसीदास का काव्य न केवल भक्ति काल का अपितु समूचे भारतीय साहित्य में उच्च कोटि का साहित्य है जिसमें विश्व मानव के कल्याण की कामना निहित है। इस साहित्य में उच्चतर सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हुई है। तुलसीदास ने विष्णु के अवतार भगवान श्रीराम के लोकरक्षक रूप को आधार बनाकर उनके भाक्ति, शील और सौन्दर्य के आगर स्वरूप के माध्यम से जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा की, वह भारतीय साहित्य में अन्यतम है। तुलसी के राम मर्यादा पुरूशोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में विविध आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा है। सीता आदर्श पत्नी है। भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई है। कौशल्या आदर्श माता, हनुमान आदर्श सेवक है। तत्कालीन विश्रृंखलित समाज के सामने इन आदर्श पात्रों की सर्जना कर तुलसीदास ने समाज के नव निर्माण का कार्य किया था। तुलसी साहित्य लोक मंगल की भावना का सारत्त्व है। राम राज्य के माध्यम से आदर्श राजनीतिक, सामाजिक

संरचना का उदाहरण प्रस्तुत किया था। तुलसीदास के साहित्य में समन्वय की भावना अनुपम है। वस्तुतः तुलसीदास जी आदर्शों और समन्वय साधना के कारण उस युग के लोक नायक थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि लोक नायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनाएं, जातियां, आचार निष्ठा और विचार–पद्धतियां प्रचलित है। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्ठा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।''[13] तुलसीदास की समन्वय साधना का प्रसार व्यापक है। उन्होंने भक्ति और ज्ञान में, लोक और शास्त्र में, द्वैत–अद्वैत–विशिष्टाद्वैत में, निर्गुण और सगुण में, भौव और वैष्णव में, ब्राह्मण और शुद्र में, राजा और प्रजा में, शक्ति, शील और सौंदर्य में, गार्हस्थ और वैराग्य में, साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त भेद–भाव, अहंकार और कट्टरता को समाप्त कर उदारवादी होकर समन्वय किया है। समन्वय के कतिपय उदाहरण देखे जा सकते हैं। ग्यानहिं भगति न कछु भेदा/उभय हरहि भव संभव खेदा। दार्शनिक समन्वय में उन्होंने लिखा है कि– कोउ कहे सत्य, झूठ कह कोउ, जुगल–प्रबल कोऊ मानै/तुलसीदास परिहरे तीनों भ्रम सो आपन पहचाने। निर्गुण और सगुण की लड़ाई को खत्म करते हुए तुलसीदास जी लिखते हैं कि अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा/गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा/जो गुन रहित सगुन सोइ वैसे, जल हिम विलग उपल नहीं जैसे। शैव और वैष्णव जैसे धार्मिक सम्प्रदायों के बढ़ते भेद–भाव को दूर करते हुए तुलसी दास जी ने लिखा है कि शिवजी का विरोधी मेरा भक्त कभी नही हो सकता। यथा – शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहु नहीं भावा। तुलसी दास जी ने मध्ययुग के प्रति हिंसक राजाओं को जन कल्याण के मार्ग की शिक्षा देते हुए कहा कि जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।' रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने गुरू विशिष्ट को निशादराज को गले लगाते हुए दिखलाकर ब्राह्मण और भाूद्र का समन्वय किया है तथा उस समय प्रचलित जातिगत सामाजिक भेदभाव को दूर करने का संदेश दिया है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। युगीन यथार्थ और तुलसी के आदर्श उनके साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धी है। कलियुग वर्णन तद्यृगीन यथार्थ है और रामराज्य का वर्णन आदर्श स्वरूप तुलसी की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास ने भारत के राजनीतिक अधःपतन को रेखांकित करते हुए राजनीतिक आदर्श के रूप में मूल्यों की स्थापना की है। वे लिखते हैं कि **'काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ो ही छली है'** जो राजा प्रजा का पालक होता है, वह शोषक और आततायी की भूमिका में दिखाई दे रहा है। एक राजा ही नही, पूरा राज–समाज ही जनता को छलने वाला था। तुलसीदास राम के माध्यम से तत्कालीन राजाओं के सामने राजतंत्र की भित्ती पर लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं। राम जनसभा में कहते हैं कि **'जो अनीति कछु शाशों भाई, तो बरजे मोही भय विसराई।'** उस अमानुसिक सामंती वातावरण में ऐसे लोकतांत्रिक मूल्य की प्रतिष्ठा साहित्य की पीठिका पर भारत के भावी लोकतंत्र के उदय की भूमिका माना जा सकता है। तुलसीदास ने रामराज्य को भारतीय राजनीति के लिए आदर्श मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया है। तुलसी के रामराज्य की कल्पना आज की स्वराज्य अवधारणा से भी अधिक जन कल्याणकारी और प्रजातांत्रिक दिखाई देती है। वे रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि –**''बयरू न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई/दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।।''** उनकी राजनीतिक व्यवस्था भाांति और सदाचार की व्यवस्था थी। सभी लोग परस्पर भाईचारे के साथ रहते हैं। सभी अपने धर्म और नीति का पालन करते हुए सन्मार्ग पर चलते हैं। जनता दुखः और दरिद्रता से मुक्त है। यथा– **''सब पर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधरम निरत श्रुतिनीति।/अलप मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब निरूज सरीरा।/नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।'** तुलसीदास के रामराज्य का यही आदर्श और संदेश है कि तन–मन और धन ही मानव जीवन के प्रधान साधन है और इन्हीं की विकृतियों का नाम रोग, अज्ञान और दरिद्रता है। भाासन वही सफल है जो इन तीनों विकृतियों को दूर कर दे।'[14] रामराज्य ऐसा ही राज्य था। एक प्रकार से तुलसी की कल्पना का लोकतंत्र था। इसी प्रकार तुलसी ने रामराज्य के वर्णन व अन्य स्थानों पर एक आदर्श समाज के लिए आवश्यक समस्त मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। तुलसी का सम्पूर्ण काव्य आदर्शों मूल्यों का भण्डार है। उसमें सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिश्ठा हुई है। भक्तिकालीन साहित्य में लोकमंगल की भावना का पोषण हुआ है जिससे वह लोक मंगल का विधायक साहित्य बन सका है। परोपकार की भावना भारतीय

जीवन मूल्यों एवं आदर्शों का पवित्र रूप है। परोपकार की भावना भारतीय जन मानस में गहरी है। तुलसीदास जी कहते हैं कि "**परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।**" परहित धर्म है और पर पीड़ा अधर्म है। यह भारतीय नैतिक मूल्यों, मान्यताओं और व्यवहार का सार तत्व है। तुलसीदास जी कहते हैं कि **सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति।** कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने शील, सदाचार, अहंकार का त्याग, उच्चतर व्यक्तिगत व सामाजिक गुणों व मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को 'स्वर्ण युग' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। निःसंदेश भक्तिकाल के साहित्य का स्वर्णत्व इसी वैष्णव साहित्य के बल पर कहा जा सकता है; जिसने अंधकारपूर्ण परिवेश में जन–मानस को उजाले की स्वर्णिम किरणों से आलोकित किया।

निष्कर्ष :

अंत में कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन वैष्णव साहित्य ने भारतीय जन मानस में जीवन के प्रति आस्था, भक्ति, श्रद्धा तथा नैतिक जीवन को प्रगाढ़ कर विश्रंखलित जीवनदशा को फिर से नव–निर्माण की ओर अग्रसर किया था। इस साहित्य ने राम और कृष्ण कथा के माध्यम से स्थाई जीवन मूल्यों और आदर्शों की स्थापना कर बिखरते समाज और टूटते मानव को शक्ति, विश्वास, आस्था और जिजीविशा प्रदान की। वैष्णव कवियों द्वारा रचित ग्रंथ मात्र धार्मिक या सांप्रदायिक ग्रंथ नहीं है। वे सामाजिक चेतना के भी दस्तावेज हैं। आज के भौतिक और शुष्क जीवन तथा मूल्यों से रहित कथित विकास में इस साहित्य और इसमें निहित मूल्यों का सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन महत्व है। यह साहित्य जीवन की मधुरता, रागात्मकता और सामाजिकता का साहित्य ठहरता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. डॉ.सुरेन्द्र मोहन प्रसाद : शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि, अनुपम प्रकाशन पटना–4 प्रथम संस्करण 1981 पृ.सं.102
2. डॉ.सुरेन्द्र मोहन प्रसाद : शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैश्णव कवि, अनुपम प्रकाशन पटना–4 प्रथम संस्करण 1981 पृ.सं.102–103
3. डॉ.नगेन्द्र सं. : हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूरपेपर बैक्स, 24 वां सं. पृ.सं. 185
4. डॉ.नगेन्द्र सं. : हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूरपेपर बैक्स, 24वां सं. पृ.सं. 179–180
5. डॉ.उशा पाण्डेय : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना– हिन्दी साहित्य संसार,दिल्ली, प्रथम संस्करण 1959 पृ.सं.114
6. आचार्य रामचन्द्र' शुक्ल : त्रिवेणी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणासी, 43वां संस्करण सं.2049 वि. पृ.सं.84
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : त्रिवेणी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणासी, 43वां संस्करण सं. 2049 वि. पृ.सं.84
8. रामचन्द्र शुक्ल संपादक : तुलसी ग्रंथावली प्रथम खण्ड– पृ.10
9. डॉ.जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, विनोद प्रस्तक मंदिर आगरा 13वां सं.1990 पृ.सं.238
10. डॉ. देशराज सिंह भाटी : सूरदास और उनका साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, द्वितीय संस्करण 1977 पृ.सं.282
11. डॉ.देशराज सिंह भाटी : सूरदास और उनका साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, द्वितीय संस्करण 1977 पृ.सं.283
12. डॉ. सत्यप्रकाश शर्मा : सं. एवं अनुवादक : धम्मपद (यमकवग्गो पठमो), षष्ठ सं.1995 साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ पृ.स.2
13. डॉ.जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा 13 वांसं. 1991, पृ.सं.223
14. तुलसी काव्य–सं.डॉ.बलदेव प्रसाद मिश्र : पृ.सं. 81

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

उत्तराखण्ड विधानसभा की लोकलेखा समिति : एक अध्ययन

प्रो0 मीना पथनी
संयोजक एवं विभागाध्यक्ष,राजनीति विज्ञान विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
जय प्रकाश आर्य, शोध छात्र
राजनीति विज्ञान विभाग सोबन सिंह जीना परिसर, अल्मोड़ा कुमाऊँ विश्वविद्यालय (उत्तराखण्ड)

विश्व की समस्त व्यवस्थापिकाओं के सामने एक समस्या यह है कि कम से कम समय में अच्छे से अच्छा व्यवस्थापन किस प्रकार से हो सके ? वर्तमान में सभी संसदें व्यवस्थापन कार्य से दबी हुयी हैं। वे आगे बढ़ते हुए व्यवस्थापन कार्य को निपटा नहीं पाती हैं और यदि संसद व्यवस्थापन कार्य में शीघ्रता बरते तो कार्य का स्तर स्वाभाविक रूप से निम्न कोटि का होगा। संसद की इन कठिनाइयों के निराकरण के लिए इग्लैण्ड में समिति–प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिक विधान–तंत्रों में समितियों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, उनसे कई लाभ है– प्रथम, समितियों में विधेयकों पर निष्पादन के साथ सूक्ष्म विचार होता है, ऐसी सूक्ष्मता के साथ विचार करना संसद में कदापि संभव नहीं है। द्वितीय, समितियों द्वारा सदन का पर्याप्त समय बच जाता है, समितियां एक प्रकार से सदन की आँख–कान–हाथ और मस्ति"क हैं। तृतीय, समितियों के सदस्य अपनी दलगत आस्थाओं के आधार पर व्यवहार नहीं करते हैं। चतुर्थ, समितियों के सदस्यगण निर्बाध रूप से अपनी अंतरात्मा के अनुसार समस्याओं के मूल्यांकन के आधार पर और दलगत निर्देश की चिंता किए बिना मतदान करते हैं। पंचम, समितियों में सदन की पिछली बैंचों पर बैठने वाले सदस्यों को भी व्यवस्थापन के कार्य में भाग लेने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

भारतीय लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने में संसदीय व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान है। ब्रिटेन से ली गई इस व्यवस्था को लम्बे समय तक अंग्रेजी शासनकाल में आजमाने के बाद भारतीय संविधान में जगह दी गई जो कि आज भारतीय संविधान का आधारभूत ढांचा है। भारत में दो प्रकार की संसदीय समितियां हैं– एक स्थाई समितियां दूसरी तदर्थ समितियां। स्थाई समितियां प्रतिवर्ष या समय–समय पर सदन द्वारा निर्वाचित की जाती है या अध्यक्ष/सभापति द्वारा मनोनीत की जाती हैं और जो स्थाई स्वरूप की होती हैं। तदर्थ समितियां सदन द्वारा या अध्यक्ष/सभापति द्वारा किन्हीं विशिष्ट मामलों पर विचार करने और प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए गठित की जाती हैं और उन मामलों पर अपना कार्य पूरा करते ही समाप्त हो जाती हैं।[1]

संसद की तर्ज पर ही राज्यों में भी विधायी कार्यों की कुशलता के लिए विधान मंडल की समितियों के गठन का प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद 208 में प्राविधान है कि संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य के विधान–मण्डल का कोई सदन अपनी प्रक्रिया और अपने कार्य संचालन के विनियमन के लिए निमय बना सकेगा।[2]

जो कार्य विधानसभा सदन के प्रांगण पर नहीं कर सकती, वह विधानसभा की विभिन्न समितियों के मार्फत आसानी से हो जाता है। ये समितियां विधानसभा के हाथ, पैर, आँख, कान और नाक हैं।[3]

विधानमण्डलों के बहुआयामी कार्य एवं सरकार के कार्य कलापों की जटिलताओं को दृष्टिगत रखते हुए राज्य विधान मण्डल के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने राज्य की संचित निधि को निकालने के लिए स्वीकृति धनराशि के व्यय पर प्रभावी नियंत्रण रख सके इसलिए राज्य विधानमण्डलों ने वित्तीय समितियों के गठन का निर्णय किया है जिनमें से लोक लेखा समिति, सार्वजनिक उपक्रम एवं निगम समिति तथा प्राक्कलन समिति मुख्य हैं।

संसदीय समितियों में लोक लेखा समिति सबसे महत्वपूर्ण समितियों में से है। महत्वपूर्ण वित्तीय समिति होने के कारण राजनीति व सरकार में रूचि रखने वाले जागरूक जनों को लोकलेखा समिति एवं इसके प्रतिवेदन की प्रतीक्षा रहती है।

उत्तराखण्ड विधानसभा की नियम समिति ने समय–समय संपन्न हुई कई बैठकों के उपरान्त

---

[1] काश्यप सुभाष, हमारी संसद नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2013, पृ0सं0–155

[2] मुनीर जे0जे0 एवं सरकार एस0, भारत का संविधान 1950 (संक्षिप्त टिप्पणियों सहित) द्विभाषी संस्करण, आलिया लॉ एजेन्सी इलाहाबाद, 2012, पृ0सं0–95।

[3] गोस्वामी 'प्रखर' आचार्य शालन्द्र, हमारी विधानसभाएं, विवेक पब्लिकेशन हाउस, जयपुर, 2001, पृ0सं0–59।

दिनांक 30 सितम्बर 2005 को उत्तराखण्ड विधानसभा की प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियमावली 2005 को अनुमोदित एवं अंगीकृत किया। नियमावली के नियम 218 के अनुरूप लोकलेखा समिति का गठन किया जाता है।

राज्य के विनियोग लेखे और उन पर भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन, राज्य के वार्षिक वित्तीय विवरण या ऐसे अन्य लेखों या वित्तीय विषयों की जो उसके सामने रखे जाए या उसको निर्दिष्ट किए जाएं या समिति जिनकी जांच करना आवश्यक समझे, जांच करने के लिए एक लोक लेखा समिति होगी। लोक लेखा समिति में 7 सदस्य होंगे जो प्रत्येक वर्ष सदन द्वारा उसके सदस्यों में से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे परन्तु कोई मंत्री समिति के सदस्य नियुक्त नहीं किए जा सकते हैं यदि समिति के कोई सदस्य मंत्री नियुक्त किए जायें तो वे ऐसी नियुक्ति की तिथि से समिति के सदस्य नहीं रहेंगे। सभापति समिति के सदस्यों में से निर्वाचित किया जायेगा।[4]

लोक लेखा समिति राज्य के विनियोग लेखे और उन पर भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का निरीक्षण करती है। समिति का यह कर्तव्य होता है कि वह अपना समाधान कर ले कि जो धन लेखे में व्यय के रूप में प्रदर्शित किया गया है वह उस सेवा या प्रयोग के लिए विधिवत् उपलब्ध और लगाएं जाने योग्य था जिसमें वह लगाया या शारित किया गया है।

समिति का यह भी कर्तव्य होता है कि वह आश्वस्त हो जाए कि व्यय प्राधिकार के अनुरूप है, जिसके वह अधीन है और प्रत्येक पुनर्विनियोग ऐसे नियमों के अनुसार किया गया है जो समक्ष प्राधिकारी द्वारा विहित किए गये हों।

लोक लेखा समिति राज्य व्यापार तथा निर्माण योजनाओं की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरणों की तथा संतुलन पत्रों और लाभ तथा हानि के लेखों के ऐसे विवरणों की जांच करती है जिन्हें तैयार करने की राज्यपाल ने अपेक्षा की हो जो किसी विशेष राज्य व्यापार संस्था या परियोजना के लिए वित्तीय व्यवस्था विनियमित करने वाले संविहित नियमों के उपबंधों के अंतर्गत तैयार किये गये हों उन पर नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जांच भी समिति करती है।

स्वायतशासी तथा अर्द्धस्वायत्तशासी निकायों की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरण की जांच भी लोक लेखा समिति करती है जिसकी लेखा परीक्षा भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा राज्यपाल के निर्देशों के अंतर्गत या किसी संविधि के अनुसार की जा सके।

समिति उन मामलों में भी नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करती है जिनके संबंध में राज्यपाल ने उससे किन्हीं प्राप्तियों की लेखा परीक्षा करने की या भण्डार के और स्कन्धों के लेखों की परीक्षा करने की अपेक्षा की हो, परन्तु ऐसे समस्त कृत्य जो राज्य के सार्वजनिक उपक्रमों/निगमों से संबंधित हों, लोक–लेखा समिति के अधिकार क्षेत्र व कृत्यों के बाहर होंगे।

लोक लेखा समिति, नियंत्रक महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट पर जो कि विधिवत् सदन में प्रस्तुत नहीं की गई हो, विचार कर सकती है, किन्तु ऐसी स्थिति में लोकलेखा समिति अपना प्रतिवेदन उस समय तक प्रस्तुत नहीं करेगी तथा उसे गोपनीय रखेगी जब तक कि नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट सदन में प्रस्तुत न हो जाय। यही निर्देश नियंत्रक तथा महालेख परीक्षक भी राजकीय व्यापारिक संस्थाओं संबंधित रिपोर्ट पर भी लागू होता है।

उत्तराखण्ड राज्य के अस्तित्व में आने के उपरान्त लोक लेखा समिति ने 11 प्रतिवेदन प्रस्तुत किये है। इस समिति ने लगभग सभी महत्वपूर्ण मंत्रालयों तथा विभागों के कार्यों की छानबीन की है। इसने अपने प्रतिवेदनों में अपना काम व्यय की जांच तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि कार्यकुशलता से संबंधित संगठनात्मक मामलों पर भी विचार किया है। समिति के प्रतिवेदनों का विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों के संगठन के कार्यकारण पर काफी प्रभाव पड़ा है। सरकार ने समिति के आग्रह पर अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में समिति की सिफारिशों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। समिति के सुझाव और टिप्पणियां खर्च को विनियमित करने और भविष्य के लिए प्रस्ताव और योजनाएं बनाने मामले में लाभप्रद मार्गदर्शक सिद्ध हुयी हैं। समिति के समक्ष उपस्थित होने वाले अनेक सरकारी अधिकारियों ने इस बात को स्वीकार किया है कि समिति से हुए विचार–विमर्श उपयोगी रहे हैं और उससे उन्हें बहुत लाभ हुआ है।

[4] उत्तराखण्ड विधानसभा की प्रक्रिया तथा कार्यसंचालन नियमावली, 2005, संसदीय अनुभाग विधानसभा सचिवालय उत्तराखण्ड, 2005, पृ0सं0–82।

इस समिति को आरम्भ से ही सम्मान दिया गया है और अधिकांश मामलों में इसकी सिफारिशें लागू की गयी हैं। समिति की सिफारिशों ने प्रदेश के वित्तीय प्रशासन को सुधारने में बहुत अधिक योगदान दिया है। विगत वर्षों में इस समिति का प्रभाव कार्यपालिका पर और भी अधिक पड़ा है। इसकी सिफारिशें या टिप्पणियों के आधार पर सरकार को कई मामलों में जांच कार्य निष्पादन समीक्षा करनी पड़ीं। वित्तीय अनियमितता और जालसाजी के कुछ मामलों में जांच करानी पड़ी, कई स्वायत्तशासी निकायों के कार्यकारण में सुधार करना पड़ा, कई मामलों की प्रक्रिया सरल बनानी पड़ी और वित्तीय नियंत्रण कठोर करना पड़ा।

उत्तराखण्ड विधानसभा की ससंदीय समितियों ने सफलतापूर्वक कार्य करके संसदीय कार्य को सरल, दक्ष तथा सुगम बनाया है। ये समितियां विधानसभा के विवेचन में दक्षता तथा विशेष अनुभवों का समावेश करने में सहायक हुई हैं। संसदीय समितियों द्वारा की जाने वाली जांच और आलोचना के भय से अधिकारी गलती होने के भय से अनुचित निर्णय लेने से घबराते हैं। लोक लेखा समिति और प्राक्कलन समिति ने अनेक ठोस कार्य किए है। सरकार ने समितियों के प्रतिवेदनों का समुचित आदर किया है और उनके सुझावों के क्रियान्वयन हेतु लगातार कदम उठाए हैं और लोकलेखा समिति की इसमें प्रमुख भूमिका रही है।

वर्तमान तक उत्तराखण्ड विधानसभा में लोक लेखा समिति के 11 प्रतिवेदन प्रस्तुत किये जा चुके जा चुके हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है :–[5]

क्र0 सं0	प्रतिवेदन का विवरण	प्रतिवेदन प्रस्तुत करने वाले समिति के अध्यक्ष का नाम	सदन में प्रस्तुत करने का दिनांक	कुल प्रस्तर जिनको निस्तारित/टिप्पणी की गयी
1	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का प्रथम प्रतिवेदन	अमृता रावत	23–11–2007	12
2	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का द्वितीय प्रतिवेदन	अमृता रावत	23–11–2007	13
3	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का तृतीय, प्रतिवेदन	अमृता रावत	17–12–2008	07
4	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का चतुर्थ प्रतिवेदन	अमृता रावत	17–12–2008	05
5	उत्तराखण्ड विधान15सभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का पंचम प्रतिवेदन	अमृता रावत	17–11–2008	09
6	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का छठा प्रथम प्रतिवेदन	अमृता रावत	17–12–2008	16
7	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का सातवां प्रतिवेदन	प्रीतम सिंह	24–12–2009	11
8	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का आठवां प्रतिवेदन	प्रीतम सिंह	– – 2010	10

[5] उत्तराखण्ड विधानसभा की लोकलेखा समिति के प्रथम से लेकर ग्यारहवें तक के प्रतिवेदनों से।

9	उत्तराखण्ड विधानसभा की प्रथम लोक लेखा समिति (2007–08) का नौवां प्रतिवेदन	कैलाश शर्मा	10–10–2006	10
10	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का दसवां प्रतिवेदन	प्रीतम सिंह	– – 2010	13
11	उत्तराखण्ड विधानसभा की द्वितीय लोक लेखा समिति (2007–08) का ग्यारहवां प्रतिवेदन	प्रीतम सिंह	23–3–2011	07

लोक लेखा समिति विधानमण्डल का ही लघु रूप है और बजट का जनहित कार्यों में वास्तविक उपयोग हो इसके लिए सरकार को जागरूक रहने को सचेत करती है। नवोदित राज्य में लोकलेखा समिति की कार्यप्रणाली को देखते हुए लगता है कि समिति ने अच्छा कार्य किया है इसके बावजूद भी कुछ कमियां समिति की कार्यप्रणाली में नजर आती हैं। उपरोक्त सारणी को देखने से पता चलता है कि समिति की प्रथम रिपोर्ट राज्य गठन के 7 वर्षों के बाद दिनांक 13–11–2007 को विधानसभा में प्रस्तुत हो पायी जिसमें नियंत्रक महालेखापरीक्षक की रिपोर्ट वर्ष 1983–84 से लेकर वर्ष 2002–03 तक के प्रस्तरों पर आधारित प्रतिवेदन शामिल थे जो यह दर्शाता है कि समिति का कार्य काफी धीमी गति से चल रहा है।

समिति की कार्य प्रणाली की कुछ अन्य कमियां जैसे– समिति के कार्यों से यह भी पता चलता है कि स्थाई कार्यपालिका इसकी सिफारिशों को गम्भीरता से नहीं लेती है। प्रायः देखा गया है कि शासन के उच्चाधिकारी समिति की बैठकों में प्रतिभाग तक नहीं करते हैं इससे उनकी समिति के कार्यों के प्रति उदासीनता जाहिर होती है। समिति के पास संसाधनों और पर्यवेक्षणों का भी अभाव है जिससे वह स्थाई कार्यपालिका व अस्थाई कार्यपालिका की उपेक्षा पर संज्ञान ले सके।

यह भी देखा जाता कि लोकलेखा समिति और अन्य समितियों में द्रुत एवं पूर्ण संवाद नहीं होता है। साथ ही तकनीकी विशेषज्ञता का भी कभी–कभी अभाव दिखता है। कई बार तो सदस्यों के कोरम पूर्ण न होने पर बैठकों को स्थगित करना पड़ता है। इससे समिति के प्रति उदासीनता दृष्टिगोचर होती है।

समिति के कार्यों से यह भी पता चलता है कि वह धन के अपव्यय को रोक नहीं सकती है। नियंत्रक महालेखा परीक्षक स्वयं भी धन के अपव्यय को रोक नहीं सकते इसीलिए लोकलेखा समिति की रिपोर्ट को पोस्टमार्टम रिपोर्ट कहकर इसकी आलोचना की जाती है। साथ ही लोक लेखा समिति नियंत्रक महालेखा परीक्षक की आडिट रिपोर्ट पर ही निर्भर रहती है अपनी ओर से कोई जांच नहीं कर सकती है।

उत्तराखण्ड विधानसभा की लोक लेखा समिति की अपनी आंतरिक कार्य–प्रणाली की नियमावली भी नहीं बन पायी है जबकि अन्य दो वित्तीय समितियां प्राक्कलन समिति और सार्वजनिक उपक्रम और निगम समिति की आंतरिक कार्यप्रणाली की नियमावली बनी हुई है। इससे भी प्रतीत होता है कि इस महत्वपूर्ण समिति को अपना गौरवपूर्ण दर्जा प्राप्त करने के लिए द्रुत गति एवं गम्भीरता से कार्य करने होंगे।

उपरोक्त कमियों को देखते हुए पता चलता है कि समिति आशानुरूप कार्य नहीं कर पा रही है। परन्तु इसके पीछे कुछ कारण भी रहे है जैसे– नवोदित राज्य में लगभग 2 वर्षों तक अंतरिम विधानसभा अस्तित्व में रही जिसमें केवल 30 सदस्य थे। इसके बाद नये–नये सदस्य विधानसभा के लिए निर्वाचित हुए इनमें से अधिकतर प्रथम बार चुने गये जिन्हें विधान निर्माण के कार्यों को समझने में वक्त लगा। दूसरा विधानसभा का आधारभूत ढांचा तैयार होने में भी शुरूआती वर्ष लग गए और विधानसभा सचिवालय में अधिकारियों–कर्मचारियों की नियुक्ति तथा आपसी समझ विकसित होने में भी समय लगा। ऐसी परिस्थितियों में कमियों का रह जाना स्वाभाविक है।

उपरोक्त कमियां सीखने की एक प्रक्रिया जैसी लगती है और इसमें सुधार की गुंजाइश प्रतीत होती है। यदि कुछ सुझावों पर अमल किया जाये तो उत्तराखण्ड की लोकलेखा समिति देशभर की समितियों में अग्रणी स्थान बना सकती है जो अन्य राज्यों के लिए मिशाल भी बन सकती है क्योंकि अब माननीय सदस्यगण डेढ़

दशक के प्रशिक्षण व व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर विधान कार्यों में दक्ष हो चुके हैं और प्रशासन भी समिति के कार्यो में तेजी ला रहा है। ऐसे में समिति का कार्य भी निरन्तरता से चल सकता है।

समिति द्वारा प्रतिवेदनों का निस्तारण कम से कम समय में किया जाना उचित प्रतीत होता है। इससे अस्थाई व स्थाई कार्यपालिका निर्भीक उदासीनता नहीं दिखा पायेगी। यदि कम से कम समय में प्रस्तरों का निस्तारण होगा तो शासक दल को अपने वर्तमान कार्यकाल में ही आवश्यक कार्यवाही करनी पड़ेगी। यदि शासक दल किसी बड़ी कार्यवाही से कतराता है तो सरकार की छवि धूमिल होने और आगामी चुनावों में इसके दुष्प्रभाव को देखते हुए उसे जनोन्मुखी फैसला लेना ही पड़ेगा। इस कार्य में विपक्षी सदस्यों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। अतः विपक्ष के नेता का सभापति बनने की परम्परा का निर्वहन कानूनन होना चाहिए।

लोकलेखा समिति अन्य बातों के साथ–साथ परम्परागत द्वितीय सदन की भूमिका भी निभा सकती है जो कि त्रुटिपूर्ण विधान बनने की रोकथाम कर सकती है। चूंकि उत्तराखण्ड विधानसभा एकल सदनीय है। ऐसे में यह समिति दूसरे सदन का कार्य कर सके यह समीचीन प्रतीत होता है। इस संबंध में खासकर लोकलेखा समिति द्वारा स्वविवेक से भी कुछ महत्वपूर्ण मामलों व चिन्हित विभागों का जिनमें नियंत्रण महालेखा परीक्षक द्वारा निरन्तरता के साथ बार–बार ऑडिट आपत्तियां की जाती हैं, में संज्ञान लिया जाना चाहिए।

प्रेस को भी समितियों की कार्यवाहियों में रूचि लेनी चाहिए अथवा समिति को स्वयं रिपोर्टों के मुख्य अंशों के प्रकाशन की व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे आम जनता भी लोकतंत्र की बारीकियों को जान सके। इससे अंततः लोकतंत्र को ही मजबूती मिलेगी।

समिति को सिफारिशी अधिकारों के बदले कानूनन नियंत्रण के अधिकार भी होने चाहिए। नियंत्रक महालेखापरीक्षक की रिपोर्ट में ऑडिट आपत्तियों से संबंधित विभागों में आगामी वर्षों के लिए नीति–निर्माण संबंधी भूमिका भी अंशतः समिति को मिलनी चाहिए।

निष्क्रिय अथवा बैठकों में निरन्तर भाग न लेने वाले सदस्यों की जगह दूसरे सक्रिय प्रकृति के सदस्यों को समिति में लिया जाना चाहिए।

अंततः निष्कर्ष रूप में कहा जाता है कि लोक लेखा समिति ब्रिटिश वेस्ट मिंस्टर सिस्टम से ही सबसे पुरानी संसदीय समिति है। इस समिति को संसदीय समितियों की जननी कहा जाता है क्योंकि यह कार्यपालिका को सार्वजनिक धन के दुरूपयोग रोकने हेतु सचेत करती है। लोक लेखा समिति कुछ ऐसे कृत्यों का पालन करती है जो अन्यथा विपक्ष के होते हैं। अर्थात यह कार्यपालिका को सदैव सतर्क रखती है और मनमानी करने से रोकती है। अतः इस रूप में भी समिति की भूमिका महत्वपूर्ण है, लेकिन अभी तक इस समिति द्वारा जो कार्य निष्पादित किये गये हैं उससे यह अनुभव होता है कि वर्तमान समय में इस समिति को और प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता हो गई है ताकि विधान मण्डल के प्रति प्रशासन जागरूक रहे और उसकी गतिविधियों में गतिशीलता एवं सुधार हो।

चूंकि समितियां भी खासकर लोकलेखा समिति उस सम्मान की अधिकारी है जितनी की विधानसभा इसलिए इस सम्मान को प्राप्त कराने में माननीय सदस्यों को गुणवत्ता पूर्ण व त्वरित कार्य निष्पादन द्वारा समितियों को प्रभावशाली बनाना होगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. काश्यप, सुभाष, हमारी संसद, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011।
2. बसु, आचार्य डॉ0 दुर्गा दास, भारत का संविधान – एक परिचय, बाधवा एण्ड कम्पनी नागपुर, 2002।
3. गोस्वामी, 'प्रखर' आचार्य भालचन्द्र, हमारी विधानसभाएं, विवेक पब्लिसिंग हाउस, जयपुर, 2007 ।
4. पाण्डे, पूर्ण चन्द्र, विधायक और विधानसभा का कार्य संचालन, स्वराज प्रकाशन दिल्ली, 1995।
5. कौल, महेश्वरनाथ एवं शकधर, श्यामलाल संसदीय पद्धति एवं प्रक्रिया, लोकसभा सचिवालय दिल्ली, मोट्रोपोलिटन बुक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, 2002।
6. उत्तराखण्ड विधानसभा की प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियमावली, संसदीय अनुभाग, विधान सभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2005।
7. उत्तराखण्ड विधानसभा के अध्यक्ष द्वारा जारी किये गये प्रक्रिया संबंधी निर्देश, संसदीय अनुभाग, विधान सभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2007।
8. सरकार, एस0 एवं मुनीर जे0जे0, भारत का संविधान 1950, संक्षिप्त टिप्पणियों सहित द्विभाषी संस्करण, अलियां लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद 2012।

9. उत्तर प्रदेश विधानसभा सदस्यों के लिए हस्तपुस्तिका ग्यारहवां संस्करण, विधानसभा सचिवालय, संसदीय अनुभाग, उत्तर प्रदेश, 2017।
10. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति (2007–08) का प्रथम प्रतिवेदन, समिति अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2007।
11. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति (2007–08) का द्वितीय प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2007।
12. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का तृतीय प्रतिवेदन, समिति अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2008।
13. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का चतुर्थ प्रतिवेदन, समिति अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2008।
14. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का पंचम प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2008।
15. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का छठां प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2008।
16. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का सप्तम प्रतिवेदन, समिति अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2009।
17. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का आठवां प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2010।
18. उत्तराखण्ड प्रथम विधानसभा की लोक लेखा समिति का नौवां प्रतिवेदन, समिति अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2006।
19. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का दसवां प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2010।
20. उत्तराखण्ड द्वितीय विधानसभा की लोक लेखा समिति का ग्यारहवां प्रतिवेदन, समिति (वित्त) अनुभाग, विधानसभा सचिवालय, उत्तराखण्ड, 2011।
21. संसद में समिति प्रणाली, संसदीय अध्ययन तथा प्रशिक्षण ब्यूरो, लोक सभा सचिवालय, नई दिल्ली, 2009

समाचार पत्र/पत्रिकाएं एवं इन्टरनेट बेबसाइट्स

1. अमर उजाला, बरेली संस्करण, संदर्भित अंक।
2. दैनिक जागरण, बरेली संस्करण, संदर्भित अंक।
3. सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएं।
4. google.com
5. *www.ukvidhansabha.uk.gov.in*
6. www.parliamentofindia.nic.in
7. www.wikipedia.org

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

जनपद अलीगढ़ में भूमि उपयोग : एक भौगोलिक अध्ययन

डा0 धर्मेन्द्र सिंह
विषय–भूगोल धर्म समाज महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0)

'भूमि' पद प्रायः धरातल के ठोस भाग को व्यक्त करने हेतु प्रयुक्त होता है। सामान्यतः बोलचाल में धरातल और मिट्टी को ऐसी वस्तु माना जाता है कि जिस पर मनुष्य ठहर सकता हो, मकान बना सकता हो तथा पशुपालन एवं बाग–बगीचे लगा सकता हो, परन्तु भूगोलवेत्ताओं द्वारा इस शब्द को व्यापक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। भौगोलिक सन्दर्भ में भूमि की परिभाषा धरातल, वायुमण्डल और समुद्र की त्रिविम रूप में की जाती है। भूमि का यह व्यापक अर्थ धरातल, जल और हिम आदि को व्यक्त करने के साथ–साथ यह भवनों, खेतों, खनिज संसाधनों, जल संसाधनों एवं वायु संसाधनों के गुणों को भी व्यक्त करता है। भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययन में आधारभूत संकल्पनाओं का सही–सही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है क्योंकि भूमि उपयोग भौगोलिक अध्ययन का एक प्रमुख तथ्य है। भूमि से सम्बन्धित भूमि प्रयोग, भूमि उपयोग और भूमि संसाधन उपयोग शब्द प्रायः एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग किये जाते रहे हैं परन्तु इनके बीच सूक्ष्म अन्तर प्राप्त है। भूमि प्रयोग का अभिप्राय उस भू–भाग से है जो प्रकृति प्रदत्त विशेषताओं के अनुरूप हो तथा भूमि उपयोग का तात्पर्य 'भूमि प्रयोग' की शोषण प्रक्रिया से है, जिसमें भूमि का व्यवहारिक उपयोग किसी निश्चित उद्देश्य या योजना के अनुरूप होता है जबकि भूमि संसाधन उपयोग का अर्थ किसी क्षेत्र का भूमि उपयोग वहाँ के आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में क्षेत्र विकास हेतु मानव इच्छानुसार प्रयुक्त होता है और प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव कम हो गया हो तो उस अवस्था को भूमि संसाधन उपयोग कहा जा सकता है।[1] इस प्रकार ये तीनों भाब्द तीन विशेष परिस्थितियों के द्योतक हैं। इन परिस्थितियों का सम्बन्ध भूमि उपयोग के विकास के तीन भिन्न–भिन्न अवस्थाओं से है जो अलग–अलग कालों में सम्पन्न होती है।

अध्ययन क्षेत्र :–

जनपद अलीगढ़ उत्तर प्रदेश के पश्चिम में स्थित है। यह उत्तरी भारत के गंगा यमुना दोआब के ऊपरी भाग में स्थित है। भौगोलिक दृष्टिकोण से इनका अंक्षाशीय विस्तार $27^0$35′ उत्तर से $28^0$11′ उत्तर तक तथा देशान्तरीय विस्तार $77^0$29′ पूर्व से $78^0$38′ पूर्व तक है। इसके उत्तर में जनपद बुलन्दशहर, उत्तरपूर्व में जनपद बदायूँ, दक्षिण पूर्व में जनपद कांशीरामनगर (पूर्ववर्ती एटा का आंशिक भाग) दक्षिण में जनपद हाथरस, दक्षिण पश्चिम में जनपद मथुरा तथा पश्चिमी भाग में हरियाणा राज्य इसकी सीमा निर्धारित करते हैं। जनपद के क्षेत्र का विस्तार पूर्व से पश्चिम तक 104.90 किमी० की लम्बाई तथा उत्तर से दक्षिण में 67.20 किमी० की चौड़ाई में है। इसका क्षेत्रफल 2216.4 वर्ग मील या 3650 वर्ग किमी० है[7] जो उत्तर प्रदेश के कुल क्षेत्रफल का 1.48 प्रतिशत है। प्रशासनिक दृष्टिकोण से जनपद 5 तहसीलों (खैर, गभाना, अतरौली, कोल तथा इगलास) व 12 विकासखण्डों–टप्पल, चण्डौस, खैर, जवाँ, लोधा, धनीपुर, गौण्डा, इगलास, अतरौली, बिजौली, गंगीरी व अकराबाद) में विभक्त हैं।[2]

शोध एवं विधितंत्र :–

शोध अध्ययन के लिये प्राथमिक एवं द्वितीय आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। द्वितीय आंकड़ों हेतु विभिन्न सरकारी कार्यालयों से प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं एवं पुस्तकों आदि स्त्रोतों से प्राप्त किया गया है। भूमि उपयोग सम्बन्धी संकलित आंकड़ों की उद्देश्यपरक तालिकाओं के अध्ययन से सुव्यवस्थित कर आनुभविक सांख्यिकीय विधियों जैसे पाई आरेख तथा मानचित्रण तकनीकों के अध्ययन से सुग्राह्य बनाकर उनका निर्वचन किया गया है। भूमि उपयोग के सीमांकन का परिकलन वृत्त आरेख विधि से किया गया है –

किसी उपविभाग का अंशों में मान $= \frac{\text{उस उपविभाग का वास्तविक मान}}{\text{संख्या का कुल योग}} \times 360^0$

अध्ययन का उद्देश्य :–

इस शोध का उद्देश्य अलीगढ़ जनपद की भूमि उपयोग सम्बन्धी संरचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है।

जनपद अलीगढ़ में भूमि उपयोग का प्रारूप

जनपद में भूमि उपयोग हेतु कुल प्रतिवेदित क्षेत्र 3.65 लाख हेक्टेयर है जिसके वन क्षेत्र 1420 हेक्टेयर

(0.39 प्रतिशत), कृषि के लिए अप्राप्य भूमि 34890 हेक्टेयर (9.56 प्रतिशत), परती भूमि व अन्य कृषिगत भूमि हेतु 14300 हेक्टेयर (3.92 प्रतिशत), परती भूमि 16364 हेक्टेयर (4.48 प्रतिशत) और शुद्ध बोया गया क्षेत्र 298026 हेक्टेयर (81.65 प्रतिशत) है।[3] तालिका – 1 से स्पष्ट है।

तालिका 1

जनपद में भूमि उपयोगिता

भूमि उपयोग के संवर्ग	क्षेत्रफल (हेक्टेयर में)	क्षेत्रफल (% में)
1. वन	1420	0.39
2. कृषि योग्य बंजर भूमि	5422	1.49
3. वर्तमान परती भूमि	9922	2.72
4. अन्य परती भूमि	6442	1.76
5. ऊसर एवं कृषि के अयोग्य भूमि	6815	1.87
6. चरागाह	1729	0.46
7. उद्योगों, बागों, वृक्षों एवं झाड़ियों	334	0.09
8. कृषि के अतिरिक्त अन्य उपयोग की भूमि	34890	9.56
9. शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल	298026	81.65
कुल प्रतिवेदित क्षेत्रफल	365000	100.00

स्रोत – सांख्यिकी पत्रिका का जनपद अलीगढ़, 2008, कार्यालय अर्थ एवं संख्याधिकारी, अलीगढ़।

भूमि उपयोग के लिए वर्ष 2009–10 की प्राप्त सूचनाओं के आधार पर जनपद अलीगढ़ के भूमि उपयोग का अन्तर्क्षेत्रीय (विकासखण्डवार) अध्ययन करने से स्पष्ट है। (तालिका–1 व मानचित्र–1) जनपद अलीगढ़ भूमि उपयोग सम्बन्धी विभिन्न विषमताएं हैं जिसके लिए धरातलीय स्वरूप मिट्टी की किस्म एवं उपजाऊ परत, प्रवाह प्रणाली का स्वरूप तथा अन्य मानवीय कारक यथा– जनसंख्या का घनत्व, उसके सांस्कृतिक एवं तकनीकी ज्ञान का स्तर आदि कारक उत्तरदायी हैं।

(1) वन भूमि :– जनपद अलीगढ़ में वन भूमि का कुल क्षेत्र मात्र 0.47 प्रतिशत है जो अत्यन्त कम है क्योंकि उत्तर–प्रदेश तथा भारत में वन भूमि का प्रतिशत कुल प्रतिवेदित क्षेत्र का क्रमशः 5.95 व 21.05 प्रतिशत है। भूमि उपयोग के इस संवर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रतिशत क्षेत्र 4.27 बिजौली विकासखण्ड में है। इस विकासखण्ड में गंगा नदी के सहारे–सहारे वनों का विस्तार है। इसके अतिरिक्त अकराबाद में 0.55 प्रतिशत, गंगीरी में 0.34 प्रतिशत, इगलास में 0.04 प्रतिशत, चण्डौस में 0.08 प्रतिशत व खैर में 0.03 प्रतिशत भाग पर वनों का विस्तार है, भोश विकासखण्डों में वन क्षेत्र भून्य है अथवा उनमें व भूमि का विस्तार नगण्य है।

(2) कृषि के लिए अप्राप्य भूमि :– जनपद अलीगढ़ में कृषि के लिए अप्राप्य भूमि 34890 हेक्टेयर है जो भूमि उपयोग हेतु कुल प्रतिवेदित क्षेत्र का 9.56 प्रतिशत है। इस संवर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक क्षेत्र 13.96 प्रतिशत बिजौली विकासखण्ड में है जबकि न्यूनतम 7.11 प्रतिशत अकराबाद विकासखण्ड का है। बिजौली विकासखण्ड का सर्वाधिक प्रतिशत होने का कारण प्रभावित गंगा तटीय क्षेत्र कृषि अयोग्य है। इनके अतिरिक्त चण्डौस में 7.77 प्रतिशत, खैर में 8.86 प्रतिशत, लोधा में 8.75 प्रतिशत, गंगीरी में 9.07 प्रतिशत, अतरौली में 9.75 प्रतिशत, टप्पल में 9.86 प्रतिशत, धनीपुर में 10.16 प्रतिशत, इगलास में 10.49 प्रतिशत, जवां में 11.12 प्रतिशत और गोण्डा में 9.54 प्रतिशत है।[4]

(3) अन्य अकृषिगत क्षेत्र परती भूमि के अतिरिक्त :– जनपद अलीगढ़ में अन्य अकृषिगत क्षेत्र जिसमें चरागाह, कृषि, योग्य बेकार भूमि तथा अन्य वृक्षों एवं

उद्यानों की भूमि सम्मिलित है। यह 14300 हेक्टेयर है जो कुल प्रतिवेदित क्षेत्र का 3.9 प्रतिशत है। भूमि उपयोग के इस संवर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित क्षेत्र का अन्तर्क्षेत्रीय वितरण असमान है।[5]

तालिका – 2

भूमि उपयोग के विभिन्न संवर्गों के अन्तर्गत क्षेत्र – 2009–10

क्रम सं०	विकासखण्ड	वन क्षेत्र	कृषि हेतु अप्राप्य भूमि	परती भूमि हेतु अन्य कृषिगत क्षेत्र	परती भूमि	शुद्ध बोया गया क्षेत्र	कुल प्रतिवेदित क्षेत्र
1.	टप्पल	0	3496 (9.86)	1374 (3.88)	436 (1.23)	30146 (85.03)	35452 (100.00)
2.	खैर	09 (0.03)	2963 (8.86)	1036 (3.10)	687 (2.06)	28730 (85.95)	33425 (100.00)
3.	चण्डौस	27 (0.08)	2566 (7.77)	1391 (4.21)	701 (2.73)	28124 (85.21)	33007 (100.00)
4.	जवां	0	3443 (11.12)	2157 (6.70)	1907 (6.15)	23124 (74.71)	30951 (100.00)
5.	गोण्डा	0	2781 (9.54)	431 (1.48)	601 (2.06)	25302 (86.92)	29115 (100.00)
6.	इगलास	10 (0.04)	2692 (10.49)	332 (1.29)	511 (1.99)	12133 (86.23)	25668 (100.00)
7.	लोधा	0	2359 (8.75)	1482 (5.50)	3411 (12.65)	19686 (73.05)	26948 (100.00)
8.	धनीपुर	0	2981 (10.16)	1971 (6.72)	1444 (7.92)	22949 (78.03)	29345 (100.00)
9.	बिजौली	1094 (4.27)	3571 (13.96)	926 (3.62)	1130 (4.42)	18858 (73.72)	25580 (100.00)
10.	गंगीरी	120 (0.34)	3168 (9.07)	1142 (3.27)	1258 (3.60)	29220 (83.71)	34908 (100.00)
11.	अकराबाद	160 (0.55)	2069 (7.11)	1255 (4.31)	347 (1.19)	25131 (86.45)	29070 (100.00)
12.	अतरौली	0	2801 (9.75)	695 (2.42)	631 (2.19)	24612 (85.64)	28739 (100.00)
	कुल/औसत	1420 (0.39)	34890 (9.56)	14300 (3.92)	16364 (4.48)	298026 (81.65)	365000 (100.00)

' उपरोक्त तालिका में कोष्टक में दी गयी संख्या प्रतिशत में है।

स्रोत :– 1. उ0प्र0 के कृषि आंकड़े, 2010, कृषि निदेशालय, उ0प्र0 कृषि भवन, लखनऊ।
2. सांख्यिकी पत्रिका, जनपद अलीगढ़, 2009–10

इसके अन्तर्गत सर्वाधिक प्रतिशत क्षेत्र धनीपुर व जवां विकासखण्डों में क्रमशः 6.72 व 6.70 प्रतिशत है जबकि न्यूनतम इगलास व गोण्डा विकासखण्डों का है जो क्रमशः 1.29 व 1.48 प्रतिशत है। इनके अतिरिक्त टप्पल में 3.88 प्रतिशत, खैर में 3.10 प्रतिशत, चण्डौस में 4.21 प्रतिशत, लोधा में 5.50 प्रतिशत, बिजौली में 3.2 प्रतिशत, गंगीरी में 3.27 प्रतिशत, अकराबाद में 4.31 प्रतिशत तथा अतरौली में 2.42 प्रतिशत है।[6]

(4) परती भूमि :– जनपद अलीगढ़ में परती भूमि जिनमें नई परती तथा पुरानी परती दोनों प्रकार की भूमि सम्मिलित है का क्षेत्र 16364 हेक्टेयर है जो कुल

क्षेत्र का 4.48 प्रतिशत है। वर्तमान तथा पुराने दोनों प्रकार परती जनपद के कुल प्रतिवेदित क्षेत्र का क्रमशः 2.19 तथा 2.29 प्रतिशत है। सामान्यतः उपजाऊ भागों में केवल अपक्षय के लक्षण प्रकट होने पर ही खेतों को परती छोड़ा जाता है, इसलिए मैदानी भागों में परती भूमि का प्रतिशत प्रायः कम होता है। परती भूमि के अन्तर्गत सर्वाधिक भूमि का विस्तार लोधा, जवां, धनीपुर व बिजौली विकासखण्डों में है, जहाँ परती भूमि का क्षेत्र क्रमशः 12.65, 6.15, 4.92 व 4.42 प्रतिशत हैं जबकि न्यूनतम परती भूमि अकराबाद, टप्पल व इगलास में है जो क्रमशः 1.19, 1.23 व 1.19 प्रतिशत है। इनके अतिरिक्त खैर में 2.06 प्रतिशत, गोण्डा में 2.06 प्रतिशत, अतरौली में 2.19 प्रतिशत, चण्डौस में 2.73 प्रति" ात तथा गंगीरी में 3.60 प्रतिशत है।[7]

(5) शुद्ध बोया गया क्षेत्र :– जनपद अलीगढ़ में शुद्ध बोया गया क्षेत्र 298026 हेक्टेयर है जो कुल प्रतिवेदित क्षेत्र का 81.65 प्रतिशत है। यह क्षेत्र अधिक होने के कारण भूमि संरक्षण, मिट्टी, जल संसाधन, तकनीकी, कृषि यन्त्र उत्तरदायी हैं। सर्वाधिक शुद्ध बोया गया क्षेत्र गोण्डा विकासखण्ड में है जो 86.92 प्रतिशत (25302 हेक्टेयर) है जबकि न्यूनतम लोधा विकासखण्ड में है जो 73.05 प्रतिशत (19686 हेक्टेयर) है। इसके अतिरिक्त इगलास, अकराबाद, खैर, अतरौली, चण्डौस व टप्पल विकासखण्ड हैं जहाँ 85 प्रतिशत से अधिक क्षेत्र है। जवां, धनीपुर, बिजौली व गंगीरी विकासखण्डों में कुल प्रतिवेदित क्षेत्र के 73 से 85 प्रतिशत भाग पर कृषि कार्य किया जाता है।[8]

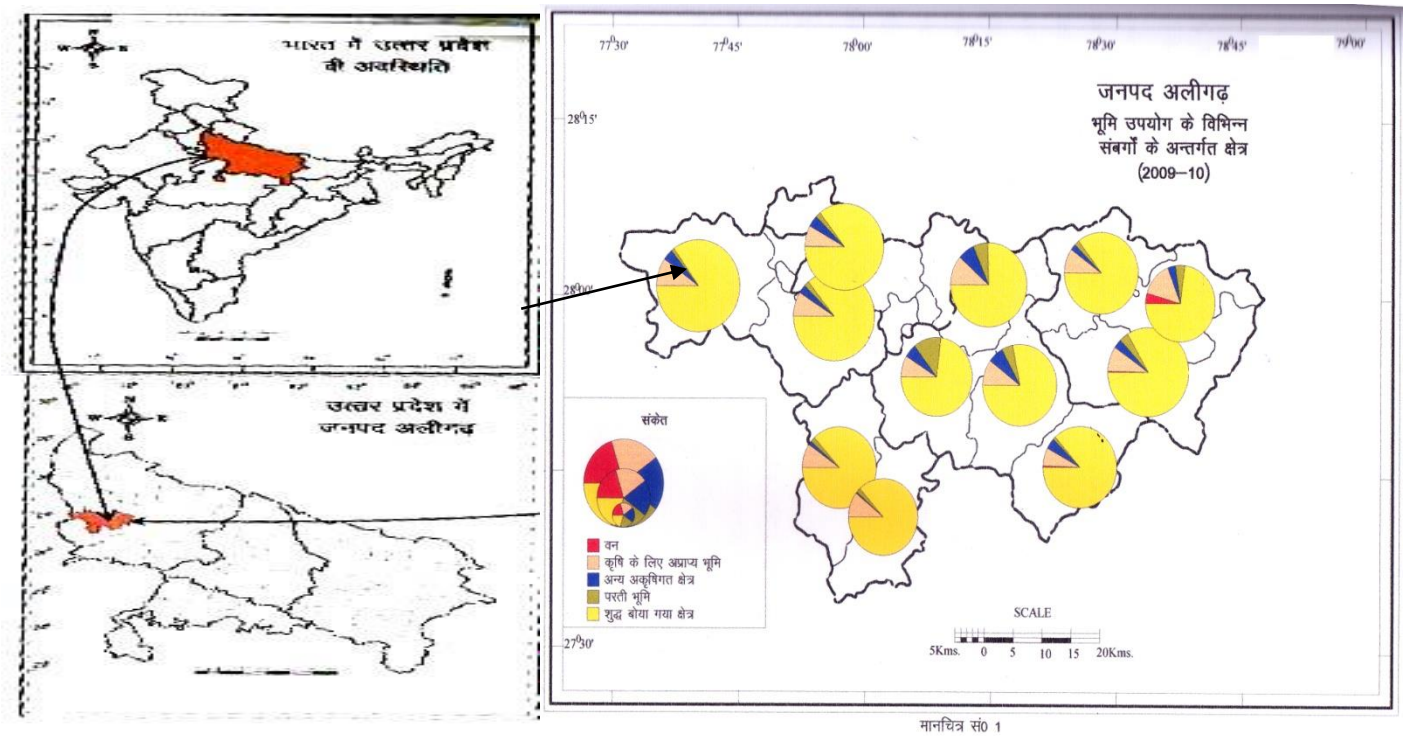

मानचित्र सं0 1

23 प्रतिशत) है जबकि न्यूनतम भूमि क्षेत्र अकराबाद 2069 हैक्टे0 (5.93 प्रतिशत) है। जनपद में परती भूमि हेतु अन्य कृषिगत क्षेत्र 14300 हैक्टे0 (3.92 प्रतिशत) है जिसमें जनपद का सर्वाधिक भूमि क्षेत्र जवाँ विकासखण्ड क्षेत्र में 2157 हैक्टे0 (15.08 प्रतिशत) है जबकि न्यूनतम भूमि क्षेत्र इगलास विकासखण्ड 332 हैक्टे0 (2.32 प्रतिशत) है। जनपद में परती भूमि 14364 हैक्टे0 (4.48 प्रतिशत) है जिसका जनपद के लोधा विकासखण्ड में 3411 हैक्टे0 (20.84 प्रतिशत) सर्वाधिक भूमि क्षेत्र है जबकि न्यूनतम भूमि क्षेत्र अकराबाद विकासखण्ड में 347 हैक्टे0 (2.12 प्रतिशत) है। जनपद में शुद्ध बोया गया क्षेत्र 300507 हैक्टे0 (82.33 प्रतिशत) है। इसका सर्वाधिक भूमि क्षेत्र टप्पल विकासखण्ड 30146 हैक्टे0 (10.11 प्रतिशत) है, जबकि इसका न्यूनतम भूमि क्षेत्र इगलास विकासखण्ड 12133 हैक्टे0 (4.07 प्रतिशत) है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. सांख्यिकीय पत्रिका, जनपद अलीगढ़–2008, कार्यालय अर्थ एवं संख्याधिकारी, अलीगढ़ (उ.प्र)
2. भू–पत्रक संख्या–53 एच, 53 एल/एस.डब्ल्यू–53 एल/एनई, 54ई, 54 आई/ एनई. 54ई/ एस.डब्ल्यू.

3. यंग मैन क्रिश्चियन्स सोसायटी ऑफ इण्डिया पत्रिका, 2006, लखनऊ, (उ.प्र.), पृ.सं.–15
4. डिस्ट्रिक गजेटियर ऑफ यूनाईटेड प्रोविन्सेज ऑफ आगरा एण्ड अवध 1927, पृ.सं.–2.
5. डिस्ट्रिक गजेटियर ऑफ यूनाईटेड प्रोविन्सेज ऑफ आगरा एण्ड अवध 1927, पृ.सं.–3.
6. आर०डी० ओल्डम व एस०सी० वुर्राड : द स्ट्रक्चर ऑफ हिमालयाज ऑफ नॉर्थ इण्डिया फॉर लैण्ड ज्योग्राफिकल रिव्यू वॉल्यूम नं० 1, 1971, पृ.सं.–38.
7. आर०एल० सिंह, इण्डिया ए रीजनल ज्योग्राफी वाराणसी, 1971, पृ.सं.–129.
8. एम०शफी : लैण्ड यूटीलाइजेशन इन ईस्टर्न यू.पी., अलीगढ़, 1960, पृ.सं.–3

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

21वीं शताब्दी में दक्षेस के समक्ष चुनौतियां एवं भविष्य

डॉ.प्रीति वर्मा (राजनीति शास्त्र) जबलपुर

प्रस्तुत शोध पत्र में दक्षेस के समक्ष चुनौतियों का अध्ययन किया गया। अध्ययन में विभिन्न क्षेत्रीय सहयोग संगठन की उत्पत्ति एवं विकास के साथ दक्षेस के समक्ष चुनौतियों का विश्लेषण किया गया है। दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग के संगठन की स्थापना के लिये कई आंतरिक कारक उत्तरदायी है। दक्षिण एशिया के सभी देश अधिक जनसंख्या,गरीबी,कुपोषण,बेरोजगारी जैसी विभिन्न समस्याओं से जूझ रहे हैं। अतः सभी दक्षिण एशिया के राष्ट्रो ने मिलकर परस्पर विकास के लिए आपसी सहयोग को बढाने के लिए तथा परस्पर समस्याओं के समाधान के लिए एक साझा नीति अपनायी।

प्रस्तुत शोधपत्र में दक्षेस के समक्ष चुनौतियों के अध्ययन की जानकारी प्रस्तुत की गयी है। दक्षिण एशिया के सात देशो–भारत,पाकिस्तान,बांगलादेश,नेपाल,

श्रीलंका,भूटान व मालद्वीप ने क्षेत्रीय संगठन को मजबूत बनाने के उद्धेश्य से दक्षेस की स्थापना की जो कि 1985 में अपने प्रथम शिखर सम्मेलन के दौरान आस्तित्व में आया। दक्षेस का पूरा नाम दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन है। अप्रैल–2007 में अफगास्तिान इसका आठवां सदस्य बना।1 चूंकि इन सभी राष्ट्रो ने मिलकर पारस्परिक सहयोग से अपने क्षेत्रीय संगठन को मजबूत करने तथा दक्षेस के समक्ष जो सामान्य चुनौतियां एवं समस्याएँ है उनसे निपटने के लिए आपसी सहयोग के मार्ग को अपनाया।

दक्षिण एशिया क्षेत्रीय संगठन का प्रमुख उद्धेश्य दक्षिण एशिया की समस्याओ का समाधान करना है। स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन, संचार व्यवस्था,उद्योग,कृषि संबंधी,शरणार्थीयो की समस्या,जनसंख्या की समस्या,गरीबी व बेराजेगारी,आतंकवाद की समस्या संबंधी समस्याओं के अतिरिक्त वाहन सुरक्षा,विकास शांति ओर सहयोग हो विकासशील देशो क प्रमुख समस्या अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ करना है। दक्षिण एशिया भी एक ऐसा क्षेत्र है जिसका सामाजिक,आर्थिक,व सामाजिक विकास आवश्यक है।2दक्षेस के राष्ट्रो के सामने सबसे बडी चुनौती गरीबी व बेरोजगारी,जनसंख्या समस्या एवं जो समस्या इस समय सारे विश्व में व्याप्त है,वह है। आतंकवाद की समस्या इस समय दक्षिण एशिया समेत विश्व के सभी देश आतंकवादी गतिविधियो की समस्या से जूझ रहे हैं। दक्षेस के देशो का मानना है कि विकसित कृषि उत्पादो में व्यापार व्यवस्था को पूरी तरह ध्यान से विकसित देशो की विशेष जरूरतो को लेना चाहिए। दक्षेस के द्वारा कई अवसर प्रदान किए गए हैं। जरूरत है कि केवल हमारी अर्थव्यवस्थाओ को विकसित करने के लिए हमारे क्षेत्र के विकास के लिए हमारे लोगो का स्थिर होना आवश्यक है।3

दक्षेस के सदस्य देशो में लगभग एक अरब लोग रहते हैं। इस दृष्टि से यह विश्व का सर्वाधिक जनसंख्या वाला संगठन है यद्यपि यह क्षेत्र प्राकृतिक जनसंख्या व प्रतिभा की दृष्टि से सम्पन्न है किन्तु इस क्षेत्र की अधिकांश जनसंख्या,गरीबी,बीमारी,अशिक्षा व कुपोषण की समस्या से पीडित है। मादक दृव्यो तस्करी व महिलाओ के अवैध व्यापार से संबंधित समस्याएं यहां विद्यमान है। जनसंख्या विस्फोट से प्रभावित यह पूरा क्षेत्र विदेशी सहायता पाने के लिए सदैव उत्सुक रहता है।4

दक्षिण एशिया के देशो के मध्य भू–राजनैतिक असंतुलन के कारण क्षेत्र में सदैच तनाव उपस्थित रहा है। भौगोलिक दृष्टि से भारत के वृहद आकार के कारण दक्षिण एशिया के देशो में भय मिश्रित तनाव हमेशा रहता है। इस क्षेत्र के अन्य देश जिनमें नेपाल,भूटान,श्रीलंका, मालद्वीप, बांग्लादेश,पाकिस्तान सहायता के लिए बाहृय शक्तियो की ओर देखते हैं।5

आतंकवाद को समाप्त करने के लिए लोगो की समस्या बेरोजगारी,भृष्टाचार जैसी जटिल समस्याओं का निराकरण करना अति आवश्यक है। युवा वर्ग को आतंकवाद की ओर जाने से रोकना होगा। एक सफल प्रयास से ही समस्त विश्व से आतंकवाद को बढने से रोका जा सकता है।

दक्षिण एशिया के देश एक संगठित सेना के रूप में अपना विकास कर सकते हैं। विकास के द्वारा देशो को गरीबी,बेरोजगारी जैसी सामाजिक समस्याओं से छुटकारा पाना है जो कि उनके शांति व सहयोग के

लिए खतरा बन सकती है। इनके लिए क्षेत्रीय सहयोग संगठन द्वारा कार्य किया जा सकता है। वर्तमान में विकास सभी देशो का मुख्य उद्धेश्य है। ऐसे देश जिनकी प्रति व्यक्ति आय कम से कम है। आर्थिक रूप से अल्प विकसित राष्ट्रो की समस्या है, सामाजिक न्याय तथा आर्थिक विकास के मध्य संतुलित विकास किस प्रकार किया जाये। क्षेत्रीय व अंर्तराष्ट्रीय संदर्भ में आर्थिक विकास पर आधारित क्षेत्रीय शांति की आवश्यकता को महसूस किया गया। क्षेत्रीय स्तर पर सहयोग के लिए समस्याओं के स्त्रोत को एकत्रित करना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ– (1)– डॉ0जेटली राजश्री दक्षिण एशियाई अध्ययन संस्थान दक्षिण एशियाई एसोसिएशन समस्याएं एवं संभावनायें।

(2)–पी0के0मिश्रा दक्षिण एशियां ओर अंतर्राष्ट्रीय संबंध(नई दिल्ली)1984 पेज नं.2

(3)–इंडिया टुडे फरवरी 1999

(4)–टी0निर्मला देवी जनसंख्या में वृद्धि ओर शार्क विकासः दक्षिण एशियाई प्रकारक1996 नई दिल्ली।

(5)– सामाजिक मीडिया क्रांति 2,5, मई 2009

ISSN : 2394-3580 Swadeshi Research Foundation Vol. – 5, No. - 7 May 2018
A Monthly Journal of Multidisciplinary Research (UGC APPROVED Multidisciplinary Journal Sl.No-108, Journal No-62711)
International Peer Refereed, Review, Indexing & Impact factor-3.9 Research Journal

चंदेल कालीन शिक्षा व्यवस्था

दीपा निगम .जबलपुर

प्राचीन काल से ही शिक्षा मनुष्य को विकास के नवीन अवसर प्रदान करती आयी है। ऋग्वेद में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य ईश्वर भक्ति और धार्मिकता की भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन, नागरिक और सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार बताए गए है।[1] अतः शिक्षा को व्यक्ति के सर्वागींण विकास हेतु तथा उसे अच्छा तथा समाज के लिए उपयोगी नागरिक बनाने हेतु आवश्यक माना गया।

विद्यारम्भ–पूर्व मध्यकालीन हिन्दू समाज में वंश परम्परा ही सब कुछ नहीं थी। जाति व्यवस्था में व्यकित का नियत स्थान होने के बावजूद धार्मिक एवं सामाजिक संस्कारों का भी उतना ही महत्व था। इन संस्कारों से व्यक्ति के दोषों का निवारण तो होता ही था साथ ही साथ व्यक्ति को नवीन क्षमता मिलती थी। इनमें प्रथम संस्कार पुसंवन एवं सीमान्तोन्नयन थे, जो जन्मजात दोषों के निवारण के लिए किए जाते थे। व्यक्ति को नया स्तर प्रदान करने के लिए अर्थात द्विज बनाने के लिए उपनयन संस्कार परम आवश्यक था। मूल रूप से ये विद्या अध्ययन के आरंभ के लिए आवश्यक थे। विद्या चाहे वह सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक हो, श्रेष्ठ मानी जाती थी। भर्तृहरि के श्लोक में कहा गया है कि विद्या मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है। यह अमूल्य है। इसकी सावधानी से रक्षा की जानी चाहिए क्योंकि इसी से भोजन, गौरव ओर वरदान प्राप्त होते हे। यह देवताओं की भी स्वामी हे ओर राज लोग इसे धन की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। जो मनुष्य विद्याविहीन है, वह पशु तुल्य है।[2] अतः उपनयन संस्कार, जिसका शाब्दिक अर्थ गुरू के पास बालक को उचित निर्देश के लिए ले जाना है, मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। ब्राह्मण आठ वर्ष में क्षत्रिय 11 वर्ष और वैश्य 12 वर्ष की आयु में शिक्षारम्भ करते थे।[3]

विद्यारम्भ किसी शुभ दिन को समारोह पूर्वक किया जाता था।[4] देवतापूजन के पश्चात् भोज दिए जाते थे एवं गुरू को शिष्य समर्पित करने के पूर्व कुछ भेंट या दक्षिणा दी जाती थी।[5] देवन्नभट्ट[6] ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। मध्यकालीन ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मणवर्गीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था[7]। 16 वर्ष की आयु पूर्ण होने तक वे विज्ञान तथा कला की सभा विधाओं में पारंगत हो जाते थे।[8]

विद्यार्थी गुरू के आश्रम में उन्हीं के साथ रहते थे, इसी से 'अन्तेवासी' या 'आचार्य कुलवासी' शब्दों का उद्भव हुआ। गुरूकुल में विद्यार्थी का दैनिक कर्त्तव्य गुरू के लिए हवन सामग्री आदि एकत्र करना होता था एवं प्रातः तथा संध्या की प्रार्थना में सम्मिलित होना होता था।[9] प्रातः काल सूर्योदय के समय होम से आंरभ करके उचित एवं शुद्ध उच्चारण के साथ वेद मंत्रों का जाप किया जाता था।[10] ब्रह्म मुहूर्त अध्ययन के लिए नियत था।[11] श्री हर्ष ने 'ऊँकार' का अर्थ आरम्भ किया है।[12] गुरू को अपनी विद्या सुयोग्य एवं निष्ठावान शिष्य को प्रदान करने में आनन्द आता था[13] और वे मौखिक रूप से शिष्य को विभिन्न विधाओं की शिक्षा प्रदान करते थे।[14] प्रत्येक पक्ष की प्रतिपदा को अवकाश रहता था।[15] संयुक्त राज्य अमेरिका के क्लीवलैण्ड कला संग्रहालय में संरक्षित 10वीं शताब्दी की प्रतिहार युग की एक सुन्दर मूर्ति में ब्रह्मचारी के दैनिक जीवन का प्रदर्शन है। अग्नि देवता के दोनों ओर ब्रह्मचारी हवन कुँड में आहुति डाल रहे हैं। वे गुरू के चरणों में श्रद्धापूर्वक बैठे है और उनसे निर्देश प्राप्त करते है। उन्हें प्रणाम करते है और हस्त स्वास्तिक मुद्रा में हाथों को बांधें हुए है।

इसी प्रकार के सुन्दर चित्रों से खजुराहो के मंदिरों की भित्तियॉं भी सुसज्जित है। लक्ष्मण मंदिर के सामने दाहिनी ओर एक मूर्ति में एक आचार्य पालथी मारे हुए जमीन पर बैठे है और सामने एक बड़ा बोर्ड है जिस पर वे पेंसिल से कुछ लिख रहे हैं। वे संभवतः रेखांकन द्वारा अपने शिष्यों को कुछ प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं और शिष्य न केवल ध्यानपूर्वक सुन रहे हैं, बल्कि आचार्य द्वारा बनाए गए रेखांकित चित्र को भी समझने को प्रयत्न कर रहे हैं। एक शिष्य गुरू के पैर दबा रहा है। उसी मंदिर के एक अन्य स्थान पर एक आचार्य अपने दो शिष्यों को कुछ समझा रहे हैं। उनमें से एक संभवतः कुछ लिख रहा है और दूसरा कलम दवात लिए बैठा है। खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के सबसे ऊपरी भाग में एक आचार्य का चित्र है जो शिष्य के हाथ में पकड़े हुए बोर्ड पर कुछ लिख रहे हैं। कालंजर के एक अभिलेख[16] में कीर्तिमान के गुरू श्री मूर्ति का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि चंदेल शासकों में राजगुरू की

परंपरा प्रचलित थी। समाज में गुरू का सम्माननीय स्थान था तथा शिक्षा के क्षेत्र में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों ने गोदान नामक समारोह का वर्णन किया है जिससे विद्यार्थी के सिर का मुडंन किया जाता था और उसके शरीर के अन्य भागों के भी बाल निकाले जाते थे।[17] इसका वर्णन भवभूति[18] और सोमेश्वर[19] ने भी किया है। यह संस्कार विद्यार्थी के वैदिक अध्ययन पूर्ण होने पर किया जाता था। प्रायः विद्यार्थी दक्षिणा के रूप में गुरू को दो गाएं प्रदान करता था।[20] उसके पश्चात् समावर्तन का संस्कार होता था। जिसमें विद्यार्थी गुरू के आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश हेतु अपने घर लौटता था। इस संस्कार में गुरू शिष्य को आर्शीवाद देता था[21] और शिष्य नए वस्त्र, जूते, आभूषण और छाता धारण करता था जो विद्यार्थी के रूप में उसके लिए निषिद्ध थे। आचार्य के आश्रम से घर लौटने पर उसे ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी। जिसमें या तो शास्त्रार्थ के द्वारा अथवा उसकी सीखी हुई विद्या की व्यावहारिक परीक्षा ली जाती थी।[22] राजा लोग गुरूओं को ग्राम, नगर, वस्त्र, स्वर्ण, भूमि आदि दान कर उनका सम्मान करते थे।[23]

चंदेल नरेशों द्वारा भी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। धंग एवं जयवर्मन के अभिलेख[24] से विदित होता है कि शिक्षक ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन के लिए भूमि, अन्न और गाएं प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार के परमर्दी की वि.सं. 1203 के महोबा लेख[25] में दंडी व महाग्रहार से आए ब्राह्मण रत्नशर्मन को घनौरा ग्राम की भूमि के दान का उल्लेख है।

अध्ययन के विषय – अध्ययन के विषय स्वाभाविक रूप से शिष्य की आवश्यकतानुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के होते थे। उदाहरण स्वरूप ब्राह्मण को चारों वेद, छहों वेदांग, विभिन्न शास्त्र, मीमांसा[26], स्मृति, पुराण[27], कर्मकांड[28] आदि का अध्ययन करना पड़ता था। क्षत्रिय राजकुमार के लिए आलेख, ज्योतिष नाट्यशास्त्र, गणित, रत्नज्ञान, व्याकरण, वेद, धनुर्विद्या, गंधयुक्ति, सांख्य, योग, तर्कशास्त्र, छन्दशास्त्र, निरूक्त, स्वप्न विचार, शकुन विचार, शस्त्रविद्या, अश्व एवं गज के लक्षण (आयुध तरंग, हस्ती लक्षणम) विभिन्न प्रकार के खेल, धातुवाद, तंत्र, रामायण, महाभारत, धातुज्ञान, धनु र्विद्या, पाकशास्त्र और इसी प्रकार के अन्य कला तथा विज्ञान से संबंधी ज्ञान प्रदान किए जाते थे। इनकी कुल संख्या 72 थी।[29] प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को वेद पढ़ाने का अधिकार था। क्षत्रिय के लिए युद्ध विद्या पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[30] इतिहास एवं आयुर्वेद का ज्ञान सराहनीय माना जाता था।[31] वैश्यों के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता थी क्योंकि उन्हें व्यापार से आजीविका का अर्जन करना होता था और लेखा जोखा रखना भी आवश्यक होता था।[32] कायस्थों के लिए पढ़ना लिखना अत्यंत आवश्यक था और इस युग में बहुत से लोग अभिलेखों के लेखक भी बने।[33] संस्कृत सदैव से ही विद्वानों की भाषा रही और उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में उसका समावेश था। साधारण ज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा साधारणतः जन साधारण की भाषा में ग्रामों में अध्यापकों द्वारा दी जाती थी। इन अध्यापकों को मुख्य कार्य अपने विद्यार्थियों को लिखने–पढ़ने तथा गणित का व्यावहारिक ज्ञान कराना था।

उच्चशिक्षा के विषय–__उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम जटिल था। शिलालेखों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वेद, वेदांग (व्याकरण, साहित्य, धर्म, श्रुति तथा तर्कशास्त्र) उच्च शिक्षा के मुख्य अंग थे। देववर्मा के ननथौरा ताम्रपत्र[34] में ब्राम्हण अभिमन्यु का उल्लेख है जो वेदांग का पूर्ण ज्ञाता था। धंगदेव के खजुराहो शिलालेख[35] में उसके रचियता राम का निर्देश सुक्तिरचना दक्ष के रूप में किया गया है। उसका पिता बलभद्र साहित्य रत्नाकर तथा श्रुतिपार दर्शिन और पितामह नन्दन कवि चक्रवर्तिन था। चंदेलवंश के अन्तिम महान नरेश परमर्दिदेव ने शुद्ध संस्कृत में भगवान शंकर की स्तुति लिखी थी।[36] इसी प्रकार देववर्मन के चरखारी अभिलेख[37] (वि.सं. 1108) में वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, मीमांसा के नाम मिलते है। खजुराहो अभिलेख का रचियता गौंड संस्कृत भाषा का विद्वान था।

परमर्दिदेव के सेमरा ताम्रपत्र[38] में भट्टाग्रहार से आए नाना शाखाओं का अध्ययन करने वाले कई ब्राम्हणों का उल्लेख है। परंपरा के अनुसार चार विधाएं मानी जाती थी – दर्शन या आनवीक्षिकी, वेद (अर्थात त्रयी) कृषि, पशुपालन एवं व्यवसाय अर्थात वार्ता तथा राजनीति अथवा दण्डनीति। राजशेखर इन परम्परागत विधाओं में एक अन्य विधा साहित्य का भी उल्लेख करते हैं। क्योंकि उनके अनुसार कोई भी ज्ञान, जो धर्म और अर्थ की प्राप्ति में सहायक हो विद्या था।[39] उपर्युक्त परम्परागत विधाओं को पुनः 14,18 या 32 विधाओं में विभाजित किया गया था। 14 विधाओं में चार वेद, छः वेदांग और चार शास्त्र पुराण, आनवीक्षिकी, मीमांसा एवं

स्मृति सम्मिलित थे।[40] इनमें चार और विधाओं वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र एवं दण्डनीति जोड़ देने से इनकी संख्या 18 हो जाती थी।[41] महत्पूर्ण विधाओं को पुनः अनेक शाखाओं में विभक्त किया गया था और प्रत्येक के लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती थी। उदाहरण स्वरूप 'उपमीतिभव प्रपंच कथा' में 16 विषयों का वर्णन है एवं 'प्रभावक चरित्र' में 64 कलाओं का उल्लेख है। हरिभद्र सूरी की पुस्तक 'समरादित्य कथा' में 85 शाखाएं वर्णित है। इसकी कथावस्तु के उल्लेख से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय राजकुमार के लिए शिक्षा विस्तृत आधार पर दी जाने की व्यवस्था थी जिसमें बौद्धिक और सांस्कृतिक शिक्षा भी आवश्यक थी।

ब्राम्हण चारों वेदों का अध्ययन करते थे,[42] जैसा कि चर्तुवेदी जाति नाम से स्पष्ट है[43] जो चारों वेदों के ज्ञाता के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु अथर्ववेद का अध्ययन कम प्रचलित था। अल्परूनी ने इस बात का उल्लेख किया है कि अन्य जातियों की तुलना में हिन्दुओं में अथर्ववेद के प्रति रुचि कम थी।[44] संभवतः यही कारण है कि ब्राम्हणों में अन्य जातियॉ जैसे त्रिवेदी[45] या तीन वेदों के ज्ञाता, द्विवेदी [46] या दो वेदों के विद्वान, चतुर्वेदी की अपेक्षा अधिक मिलते हैं।

व्याकरण सभी शास्त्रों के ज्ञान की कुंजी समझी जाती थी। अतः इसके अध्ययन का विशेष महत्व था। इसके अध्ययन का बड़ा प्रचार था। 'प्रभावक चरित्र' में इस बात का उल्लेख है कि जब सिद्धराज जयसिंह विजय के उल्लास में उज्जैन नगर में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने देखा कि भोज राजा का व्याकरण विद्यार्थी पढ़ रहे थे।[47] परमार राजा उदयादित्य और नरवर्मन के शिलालेख जो धार में भोजशाला में पाए गए थे। उनके संस्कृत व्याकरण की सूचीकरण भी पाया जाता है।[48] देश में उत्तम वैयाकरणों की कमी न थी।[49] शिलालेखों में देद्दु वैयाकरणी का उल्लेख मिलता है। उसके पुत्र माधव ने यशोवर्मन के खजुराहो शिलालेख की रचना की थी।[50] ब्राम्हणों में तर्क विद्या, मीमांसा, वेदांत, शब्दशास्त्र आदि की दक्षता की ख्याति थी।[51]

अध्ययन के पाठ्यक्रम में चिकित्सा शास्त्र भी सम्मिलित था। अनेक शिलालेखों में वैद्यों[52] का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि उन दिनों आयुर्वेद का पर्याप्त प्रचार था। वि.स. 1166 (वर्ष1109 ई.) के विजयराज के अर्थुन शिलालेख से ज्ञात होता है कि एक जैन वैद्य नागर वंश के 'रत्न' माने जाते थे।[52] उनके पुत्र पाषक को आर्युवेद का पूर्ण ज्ञान था।[54] भोज ने भी चिकित्साशास्त्र पर 'राजमृगांक' नामक ग्रंथ की रचना की। गंधवाद के लेखक ने उन्हें चिकित्सा शास्त्र का प्रामाणिक विद्वान निरूपित किया था। उन्होंने चरक और सुश्रुत पर आयुर्वेद दीपिका[55] तथा भानुमति[56] नामक व्याख्यायें लिखी। उनका ग्रंथ चिकित्सासार संग्रह[57] एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उनके भाई भानु भी विद्वान वैद्य थे।[58] इस काल में अनेक विद्वान वैद्य भी थे।[59] चिकित्सा विज्ञान पर रचे गए मौलिक ग्रंथों में सर्वोत्तम महत्व का 'रसार्णव' है। रसायनशास्त्र पर एक उत्तम ग्रंथ सर्वदर्शन संग्रह इसी समय का है।

इसके अतिरिक्त पशु चिकित्सा का भी समुचित विकास था। अश्ववैद्य के निर्देश से स्पष्ट होता है कि उस काल में पशु चिकित्सक भी हुआ करते थे। प्राचीन भारत में शल्य चिकित्सा की एक विकसित पद्धति थी। प्रो. वेबर ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि आज भी पश्चिमी विद्धानों को भारत की शल्य विद्या से बहुत कुछ सीखना है। जैसे उन्होंने कटी नाक जोड़ने की तकनीक भारतीय चिकित्सकों से सीखी है।[61]

शिक्षा पद्धति में गणित और फलित ज्योतिष का भी समावेश था। भोज के 'राजमार्तक' एवं 'भुजबल' निबन्ध में इसका उल्लेख है। अनेक शिलालेखों में उसके युग के प्रसिद्ध ज्योतिषियों का भी उल्लेख है।[62] चेदीवंश में जन्में हैहय राजा जाजल्लदेव द्वितीय के आमोद फलक से ज्ञात होता है कि उस युग में राघव नाम के एक विख्यात ब्राम्हण ज्योतिष थे जो बहुत लोकप्रिय होने से राजा भी उनका आदर करते थे।[63] अन्य विद्वान ज्योतिष भी थे।[64] पं.दामोदर शर्मन ज्योतिष शास्त्र के पांच सिद्धांतो के पंडित थे।[65] चेदी वर्ष 880 (1128ई.) के राजा रत्नदेव द्वितीय के समय पद्मनाभ नाम से प्राचीन गणनाओं का पता लगाया। बीज संस्कार के द्वारा उन्होंने चंद्रग्रहण के सही समय की शुद्ध गणना की। वे ज्योतिष के प्रकाण्ड पंडित थे। शक संवत् 1021 वर्ष (1099ई.) में पुरी के शतानंद ने ज्योतिष पर एक ग्रंथ भासवती की रचना की।[66] भास्कराचार्य जैसे जगविख्यात लेखक भी इसी युग में हुए।[67]

संभवतः इस काल में राजनीति भी अध्ययन का एक प्रमुख विषय था। गुजरात से असम तक ऐसे प्रमाण मिलते है कि लोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करते थे। सोमदेव सूरी नामक प्रसिद्ध विद्धान ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर नीतिवाक्यामृत नामक ग्रंथ की रचना 959 ई. में की थी। कल्चुरि शासक रत्नदेव तृतीय द्वारा चेदि संवत् 933

(1181–82ई.) में लिखवाए गए खरोद शिलालेख में यह उल्लेख है कि उपर्युक्त राजा के गंगाधर नामक धर्मिक मंत्री ने अनेक दान दिए और धार्मिक कार्य संपन्न कराए। इसमें यह भी उल्लेख है कि वे 'चाणक्य विद्यामति' के कुशल विद्धान थे।[68] यह ग्रंथ आसाम के अत्यंत लोकप्रिय था। परमर्दिदेव के बघरी पाषाण अभिलेख (वि.स.1252)[69] वशिष्ट गोत्र के एक ब्राम्हण परिवार का उल्लेख करता है जिसने कई पीढ़ियों तक चंदेलों की सेवा की थी। इस परिवार के प्रथम दो सदस्य लक्ष्मीधर तथा वत्सराज महान विद्धान थे। लक्ष्मीधर बाद में गोविन्द चन्द्र गहड़वाल के मंत्री बने तथा उन्होंने राजधर्म एवं व्यवहार की रचना की। चंडेश्वर ने राजनीति पर पुस्तक लिखी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की परंपरा कालान्तरा तक चलती रही, यद्यपि इसका प्रभाव बाद में कम हो गया।

उस युग में विज्ञान की अनेक शाखाओं के अध्ययन का भी सम्यक प्रचार था। कवीन्द्र देवधर रचित बघरी शिलालेख में यह वर्णन है कि लक्ष्मीधर 'समस्त विज्ञान' रूपी जलाशय में निवास करने वाले राजहंस के समान था।[70] निस्संदेह समस्त विज्ञान के उल्लेख से कोई बात स्पष्ट नहीं होती फिर भी तत्कालीन स्थापत्य कला के विकास एवं अभ्युदय से स्पष्ट है कि इस दिशा में भी प्रगति हुई थी। खजुराहो की भव्य प्रतिमाओं तथा मंदिरों को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मूर्तिकला तथा वास्तुकला की भी चरम–सीमा तक प्रगति हुई होगी तथा ये भी अध्ययन के विषय के रूप में लोकप्रिय रहे होंगे। वास्तु विज्ञान की उल्लेखनीय रचनाओं में वाराहमिहिर की 'वृहतसंहिता', 'विश्वकर्मा' रचित 'विश्वकर्मप्रकाश' तथा 'विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र', मयदानव रचित 'मय शिल्प' तथा 'मयमत' कश्यप और भारद्वाज रचित 'वास्तुतत्व' तथा 'वैखानस' एवं सनत्कुमार रचित 'वास्तु शास्त्र' आदि है । इस काल में वास्तु का विकास एक वृहद विज्ञान के रूप में किया गया ।

महाराज भोजदेव द्वारा रचित 'समरांगण सूत्रधार' अपने विषय का अद्वितीय ग्रंथ है । स्थापत्य, नगर निर्माण, यंत्र–विज्ञान तथा विलक्षण यंत्रों की रचना के संबंध में जो परिपूर्ण विज्ञान इस ग्रंथ में प्राप्त होता है, वह उस युग में विज्ञान के अध्ययन एवं अध्यापन को सिद्ध करता है ।

खजुराहो के मंदिरों में उत्कीर्ण अनेक प्रतिमाओं से ललित कलाओं की विभिन्न विधाओं की व्यावहारिक शिक्षा पर प्रकाश पड़ता है । नृत्यमग्ना सुन्दरी की एक कलापूर्ण प्रतिमा का अंकन आदिनाथ मंदिर की बहिभित्ति पर मिलता है । इसी प्रकार पार्श्वनाथ मंदिर की उत्तरी जंधा पर बड़े प्रभावकारी ढंग से पांवों में घूघंरू बांधती हुई नृत्योद्यता अप्सरा का अंकन मिलता है। वितान की आलंबन बाहुओं पर जितनी भी अप्सरा प्रतिमाओं का अंकन खजुराहों में मिलता है । प्रायः सभी नृत्य भंगिमाओं के विविध प्रकारों का प्रदर्शन करता है। इसी प्रकार कंदरिया महादेव मंदिर की उत्तरपूर्वी भित्ति पर वेणु बजाती हुई एक सुर सुन्दरी अंकित है । ये सभी दृश्य उस काल में संगीत[71] एवं नृत्य कला की प्रगति एवं अध्ययन पर प्रकाश डालते है ।

उस युग में पढ़े जाने वाले अन्य महत्वपूर्ण विषय न्याय[72], इतिहास[73], पुराण[74], मीमांसा[75], रामायण, महाभारत, स्मृति, दर्शन[76] आदि थे । उस समय में हरिभद्र सूरी, भोजदेव, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, मम्मट, भास्कर, रामानुज, कृष्णमिश्र, जयदेव एवं श्रीहर्ष जैसे अनेक प्रकाण्ड विद्धान थे जो न केवल विभिन्न विधाओं के महान पंडित थे।[77] बल्कि अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों के रचयिता भी थे। इस सांस्कृतिक संक्रमण के युग में चंदेलों द्वारा अभिनीत आख्यान तुलना में अत्यंत महत्वपूर्ण था। उन्हीं के यश को प्रकीर्ण करता हुआ प्रबोध चन्द्रोदय राजपूत भारत के साहित्य संग्रहालय में आज भी गौरव से देदीप्यमान है।

संदभ ग्रंथ

1. ऋग्वेद, सरस्वती सुक्त, 3,10–12
2. नीतिशतक, श्लोक 16
3. आश्वलायन गृह सूत्र, 19,1–6, अपमिति भवप्रपंच कथा 303, 141, 122,
   कथाकोष प्रकरण, पृ. 8 कुवलयमाला पृ. 21
4. ए.बी.ओ.आर.आई., भाग–36 पृ. 362
5. उप भितिभव प्रपंच कथा, पृ. 303
6. एस.सी.पृ. 66–67
7. मुकर्जी आर.के. प्राचीन भारतीय शिक्षा पृ. 183
8. धनपालकृत तिलक मंजरी, पृ.64–65
   भोजकृत श्रृंगार मंजरी कथा, पृ. 19

9. प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति, विश्वम्बर 1,2,पृ. 70–75
10. एन.सी.भाग–3, पृ. 75, भाग–19, पृ.7
11. वही, भाग–19, पृ. 46, 60
12. वही, भाग– 20, पृ.2
13. वही, भाग–7,पृ. 62
14, वही, भाग–17,पृ. 2
15. वही, भाग–11,पृ. 92
16. एस. के सुल्लेरे अजयगढ़ एवं कांलिजर की देवप्रतिमाएं पृ. 83
17. मनुस्मृति, भाग–2, पृ. 62, याज्ञवल्क्य स्मृति, भाग–1, पृ. 36
18. उत्तररामचरित, अध्याय 1
19. मानसोल्लास, भाग–3 पृ. 1305
20. आश्वलायन गृह सूत्र, 18, 1–9
21. तैतरीय ब्राह्मण, भाग–7,2, 1–4, तैतरीय उपनिषद,
22. उपभिति भवप्रपंच कथा, पृ. 248, कुवलयमाला, पृ. 312
23. मानसोल्लास, भाग–3, पृ. 1304–5
24. इपि. इण्डि, भाग–1, पृ. 138
25. इण्डि, ए.टी.भाग–16, पृ. 12–13
26. वृहत कथा कोष, 22–24
27. वही, 126
28. कथाकोश प्रकरण, पृ. 38, पंक्ति 4
29. कुवलयमाला, पृ. 21–28
30. कुवलयमाला कथा पृ. 23–24, कथाकोष प्रकरण पृ.24
31. पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी. 1914–15, पृ.35
32. मनु पर मेधातिथि की टीका, श्लोक 329–332
33. इण्डि, ए.टी.,भाग–16,पृ. 201
34. इपि. इण्डि.,भाग–1,पृ.146
35. का. आ. स. रि. भाग–21. पृ. 371
36. इण्डि ए. टी., भाग–16, पृ. 201
37. जिल्द–8, जे. ए. एस. बी. श्लोक 58
38. काव्यमीमांसा, पृ. 4
39. वहीं, पृ. 3
40. वहीं, पृ. 4
41. इपि. इण्डि, भाग–7 पृ. 99–100, भाग–14, पृ. 197 पंक्ति 9–21
42. ए. एस.आई.ए.आर. 1902–3, पृ. 237

    इपि. इण्डि. भाग–4, पृ. 157
43. सचाऊ, भाग–1, पृ. 157
44. इपि. इण्डि भाग–1,पृ. 311, भाग–28, पृ. 152

    भाग–4, पृ. 157
45. वही भाग–7, पृ. 87, भाग–14, पृ. 10, भाग–32 पृ. 121 भाग–4, पृ. 157
46. सरस्वती कंठाभरण, पृ. 155, 157, 185, राजा भोज का यह ग्रंथ व्याकरण के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है (टी.आर. चिंतामणि द्वारा संपादित तथा मद्रास वि.वि. संस्कृत सीरिज में प्रकाशित)।
47. इपि. इण्डि. भाग–21, पृ. 25
48. वही, भाग–1, पृ. 122–135
49. वही,
50. इपि, इण्डि, भाग–14, पृ. 325, भाग–18, पृ. 96 भाग–19 पृ. 296, भाग 29, पृ. 11 भाग–14, पृ. 295, भाग–1 पृ. 40
51. इपि. इण्डि भाग–16, पृ. 272
52. वही भाग–21, पृ. 50 श्लोक 4–5
53. वही, श्लोक 7
54. यह चरक तात्पर्य दीपिका के रूप में भी जाना जाता है। संपादक श्रीनाथ

विशारद राजस्थान तथा विमानस्थान कलकत्ता 1892

55. गंगाप्रसाद सेन, विजयरत्नसेन तथा निशिकांत सेन,कलकत्ता द्वारा भागों में संपादित, 1983–93
56. संपादक जीवानंद विद्यासागर कलकत्ता 1888
57. इंडियन कल्चर भाग–1, पृ.684
58. स्ट्रगल फॉर एम्पायर पृ. 327 हिस्ट्री ऑफ बंगाल 1, पृ.317
59. क.आ.स.रि.भाग–21, पृ.51,पं.1 मित्र एक.के. अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो पृ. 180
60. इंडियन कल्चर,पृ.270
61. इपि, इण्डि,भाग–2,पृ. 161,भाग–22 पृ.164
62. वही भाग– 19,पृ. 210
63. वही,भाग–30,पृ.10,भाग–7,पृ.90,भाग–6,पृ. 206,भाग–22,पृ. 166
64. वही भाग–8 पृ.155
65. बेनर्जी आर.डी. हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा भाग–1 पृ.251–2
66. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ.523
67. इपि. इण्डि,भाग–21,पृ 160,श्लोक 26
68. इपि.इण्डि,भाग–1,पृ.207–14,ए.एस.आर. भाग–21,पृ.82,जे.ए.एस.बी. भाग–44 पृ. 158
69. इपि.इण्डि,भाग–1,पृ 122–135
70. देखिए पार्श्वदेवकृत संगीत समयसार
71. गया अभिलेख इण्डि ए.टी,भाग–16, पृ.65 श्लोक 14
72. इपि.इण्डि,भाग–21,पृ.50,श्लोक 9–11
73. वि.स. 1108/1051 ई.का चंदेल ताम्र पत्र अभिलेख में पंडित किक्कन का उल्लेख किया गया है जिसके बारे में कहा गया हे कि वह वेदों,वेदांगों, इतिहास, पुराणों, मीमांसा की व्याख्या हेतु हमेशा तैयार रहता था। इपि. इण्डि.,भाग–20,पृ.126
74. इपि.इण्डि.भाग– 13,पृ.290,श्लोक 16, भाग–19,पृ.296,भाग–2,पृ. 24–25
75. सेवाड़ी ताम्रपात्र चौहान रत्नपाल तिथि वि.स. 1176,(1119 ई.)
76. हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया, भाग–3,पृ.474